दंसण मूलो धम्मो

आत्मधर्म

शाश्वत सुखका मार्गदर्शक आध्यात्मिक मासिक

वीर सं० २४९३ | तंत्री जगजीवन बाउचंद दोशी | वर्ष २२ अंक नं० ८

मेरे हृदय में विराजो!

चारित्र

ज्ञान

दर्शन

समभावरूप सामायिक की भावना करनेवाला धर्मात्मा विचार करता है कि:—

यो दर्शनज्ञानसुखस्वभावः समस्त संसारविकारबाह्यः।
समाधिगम्यः परात्मसंज्ञः स देवदेवो हृदये ममास्ताम्॥१३॥

जो ज्ञान, दर्शन और सुखस्वभावरूप है, समस्त संसार विकार से जो बाह्य है, अभेदरत्नत्रयरूप निर्विकल्प समाधि द्वारा जो गम्य है और परमात्मा ऐसी संज्ञा से जो पहिचाना जाता है, वह देवाधिदेव मेरे हृदय में स्थिर रहो!

निषूदते यो भवदुःखजालं निरीक्षते यो जगदन्तरालं।
योऽन्तर्गतोयोगिनिरीक्षणीयः स देवदेवो हृदये ममास्ताम्॥१४॥

भवदुःख के जाल का जो विध्वंस करता है, जो अंतर में जगत का निरीक्षण करता है, तथा जो अंतर्गत योगियों द्वारा निरीक्षणीय है वह देवाधिदेव मेरे हृदय में विराजमान हो! *[अमितगति स्वामी]*

श्री दिगंबर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ (सौराष्ट्र)

दिसम्बर १९६६] | वार्षिक मूल्य २) | (२६०) | एक अंक २५ पैसा | [मंगसर सं० २०२३

विषय-सूची

आत्मा में मन किसप्रकार प्रवेश करे ?
आत्मा का अनुभव
जीवन में विजय
समयसार का जो अभ्यास करेगा उसका मोह नष्ट हो जायेगा
समता भाव
कब मुझे समकित मिलेगा (कविता)
धन्य हैं वे वैरागी
आध्यात्मिक पद
ज्ञान महिमा
प्रवचन वाटिका से चुने हुए पुष्प
तुझे शर्म नहीं आती
जिन वचन का सार
समस्त जगत आत्मा का अनुभव प्राप्त करो
रे अनर्गलता...
मोक्षमार्ग दो नहीं हैं
राग बन्ध की डोरी है (कविता)
साधक को निश्चय सम्यक्त्व सदैव होता है
स्वानुभव का रंग... और उसकी भूमिका
वक्ता और श्रोता की चौभंगी
आध्यात्मिक पद
सर्वज्ञ के स्वरूप का अनुसरण करनेवाली जिनवाणी को नमस्कार
धर्म साधन में एक क्षण का भी विलंब न हो
समाचार संग्रह

आत्मधर्म

आजीवन सभ्य योजना

आत्मधर्म मासिक पत्र के हजारों की संख्या में ग्राहक हैं। पत्र ज्यादा से ज्यादा विकसित बने और उनके स्थायी ग्राहकों को हरसाल वार्षिक शुल्क भेजने का कष्ट न हो, संस्था को भी व्यवस्था में सुविधा रहे। अतः ऐसा निर्णय किया गया है कि- १०१) रुपये लेकर 'आजीवन सभ्य' योजना चालू की जाये, एवं उन्हें 'आत्मधर्म' हरसाल बिना वार्षिक शुल्क भेजा जाये। अतः जो सज्जन इस योजना से लाभ उठाना चाहें, वे निम्न पते पर १०१) रुपया भेजकर इस योजना में सहयोग प्रदान करें। यह योजना गुजराती तथा हिन्दी दोनों भाषाओं के 'आत्मधर्म' के लिये चालू की गई है।

पत्र व्यवहार का पता—
मैनेजर दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

आत्मधर्म के नये ग्राहकों से निवेदन

इधर दो माह से जो आत्मधर्म के नये ग्राहक बने हैं या बनेंगे, उन्हें आसोज से पहले के अंक नहीं मिल सकेंगे, कारण वे खत्म हो गये हैं। आसोज माह से चैत्र तक के अंक ही मिलेंगे, सो ज्ञात रहे। —प्रकाशक

शाश्वत् सुख का मार्गदर्शक मासिक-पत्र

आत्मधर्म

: संपादक : जगजीवन बाउचंद दोशी (सावरकुंडला)

दिसम्बर : १९६६ ☆ वर्ष २२वाँ, मंगसर वीर नि०सं० २४९३ ☆ अंक : ८

आत्मा में मन किसप्रकार प्रवेश करे ?

एक भाई ने पूछा—आत्मा की बात सुनते समय तो अच्छी लगती है परंतु उसके विचार में मन रुकता नहीं, उसका क्या कारण ?

उत्तर में गुरुदेव ने कहा कि जो वास्तव में रुचि हो तो मन क्यों नहीं लगे ? संसार के विचार में मन क्यों जाता है ? सुनते समय भी जो वास्तव में आत्मस्वरूप का लक्ष रखकर उसका उत्साह आता है तो उपयोग उसमें लगे बिना रहता नहीं। आत्मा को जानने की वास्तव में रुचि जागे, उसका उसमें बारंबार उपयोग लगता है। इसके विचार में मन नहीं लगता तो अपने परिणामों में कमजोरी है। उपयोग को जबरन जबरन बलपूर्वक पर से हटाकर स्वसत्ता में, चिंतन में लगाने का बारंबार उद्यम (पुरुषार्थ) करना चाहिये। बार-बार अंतर के उग्र अभ्यास द्वारा चैतन्य में उपयोग जरूर लगेगा।

आत्मा का अनुभव

ऐसा अनुभव करने से क्या होता है ?
और आत्मा कैसा देखने में आता है ?
— इसको कहते हैं —

भूतं भांतम-भूतमेव रभसा निर्भिद्य बन्धं सुधी
र्यद्यंतः किल कोऽप्यतो कलयति व्यवहत्य मोहं हठात्।
आत्मात्मानुभवैकगम्य महिमा व्यक्तोऽयमास्ते ध्रुवं।
नित्यं कर्म कलंक पंक विकलो देवः स्वयं शाश्वतः ॥१२॥

ऐसा अनुभव करते भगवान आत्मा अपने स्वभावरूप प्रगट होते हैं.... अर्थात् पर्याय में प्रगट अनुभव में आते हैं। चेतना लक्षण सहित आत्मा स्वानुभव द्वारा अशुद्धता रूपी कीचड़ से सर्वथा भिन्न होता है। देखो तो सही, यह आत्मा के अनुभव की महिमा! कि जिसका अनुभव होते ही चार गति का भ्रमण रुक जाता है और ध्रुव स्थिर ऐसी स्वभावदशा को प्राप्त करता है; स्वानुभव का उत्कृष्ट फल सिद्धदशा है। आत्मा का अनुभव करते समय जो आत्मा के स्वभाव में है, वह पर्याय में भी व्यक्त (प्रगट) होता है। अनुभव में आया हुआ भगवान शुद्धात्मा स्वयं देव है, स्वयं दिव्य महिमावाला देव है, जिससे त्रिलोक में पूज्य है। त्रिलोक में जितने महान पुरुष हैं - ज्ञानी धर्मात्मा हैं, वह सब इस चैतन्यस्वभाव को पूज्यनीय-आदरणीय समझते हैं, इसलिए यह देव है, इसकी दिव्य (अद्भुत) महिमा है; यह स्वयं शाश्वत है। ऐसी महिमावाला आत्मा स्वानुभव में प्रगट होता है।

ऐसा आत्मा किसप्रकार प्रगट होता है ?

स्वानुभव द्वारा ही प्रगट होता है। भगवान आत्मा की महिमा इतनी महान है कि स्वानुभव के अतीन्द्रिय आनंद द्वारा ही प्रगट होता है, दूसरे किसी प्रकार से अनुभव में आता नहीं। स्वानुभव -प्रत्यक्ष सिवाय किसी में भी (-राग में, व्यवहार में और इन्द्रियज्ञान में) ऐसी शक्ति नहीं कि जिससे भगवान आत्मा की अचिंत्य महिमा का पार प्राप्त कर सके।

आत्मा के अनुभव से ही शांति और सुख मिलता है। आत्मा ज्ञानस्वरूप और अतीन्द्रिय आनंदस्वरूप है, इसकी महिमा स्वानुभव द्वारा ही प्रत्यक्ष देखने में आती है। ज्ञान और आनंद के अनुभव द्वारा ही ज्ञानानंदस्वरूप आत्मा की महिमा प्रत्यक्ष-प्रगट होती है। विकल्प तो स्वयं दु:खरूप है, इस दु:ख द्वारा आनंदस्वरूप आत्मा का अनुभव होता नहीं। आत्मारूप बनकर आत्मा का अनुभव होता है, आत्मा के विरुद्ध भावों से आत्मा अनुभव में नहीं आती। आत्मा तो ज्ञानानंदस्वरूप है, तो इसका वेदन भी ज्ञान और आनंदरूप ही है। ज्ञान का अंश (कण) प्रगट होने के साथ ही आनंद का स्वाद आता है, इसका नाम अनुभव है। विभाव तो विपरीत है, इसमें इतनी शक्ति नहीं कि स्वभाव में एकरूप होकर उसका अनुभव करे। सवभाव में एकरूप होकर उसका अनुभव करने की शक्ति अतीन्द्रिय ज्ञान और आनंद में ही है। विकल्प तो कीचड़ जैसे हैं। स्वानुभवरूपी अमृत में कीचड़ किसप्रकार हो ? स्वानुभव में आनंद का अमृत समुद्र है। चैतन्य की महत्ता ऐसी है कि अतीन्द्रिय भाव बिना वह दिखता नहीं। चैतन्य वस्तु की अद्वितीय महिमा अज्ञानी के ध्यान में आती नहीं; अंतर में झुकी हुई जो परिणति उसमें ही अद्वितीय चैतन्य महिमा प्रत्यक्ष देखने में आती है।

चैतन्य प्रभु की महिमा (महानता-बड़प्पन) एक प्रकार से ही मालूम हो सकती है, वह किसप्रकार ? कि इसके स्वानुभव द्वारा ही मालूम होती है। यह स्वानुभव ज्ञान और आनंद सहित है।

आत्मा में जिसप्रकार ज्ञानगुण है, उसीप्रकार अतीन्द्रिय सुख नाम का भी एक गुण है; अशुद्धभावरूप संसारदशा में उसका स्वाद नहीं आता। यह सुख, अशुद्धता दूर होकर शुद्धस्वरूप के अनुभव होते ही प्रगट होता है। यह सुख ऐसा है कि चारों गति में इसकी समानता का कोई दृष्टांत नहीं है, चारों गति के परभावों में कहीं भी ऐसा सुख नहीं कि जिसके द्वारा चैतन्य का अतीन्द्रिय सुख समझाया जा सके। अहा ! ऐसा सुख ! परमात्मा को तो पूर्ण प्रगट हुआ है, और प्रत्येक आत्मा के स्वभाव में भरा है, परंतु जब शुद्ध स्वरूप का अनुभव करे, तब उस समय इस सुख का अनुभव-अतीन्द्रिय आनंद का अनुभव होता है।

शक्ति में सुख स्वभाव भरा हुआ है।

उसका अनुभव क्यों नहीं होता ? कि अपने में पर्याय में अशुद्धता है, उसमें एकताबुद्धि है इसलिये। तब शुद्धात्मा का अनुभव किसप्रकार हो ? कि अपने शुद्ध स्वरूप को ही अपना

मानकर उसे अनुभव में लावे तब। इसप्रकार द्रव्य के स्वभाव का, और उसकी शुद्ध-अशुद्ध पर्याय का ज्ञान कराया। अहा! स्वभाव के सुख की सरस और मधुर बात है।

आत्मा अतीन्द्रिय आनंदस्वभाव से भरा हुआ है। परंतु पर्याय में वह प्रगट नहीं - वह कब प्रगट हो? कि शुद्धस्वरूप का अनुभव करने से वह अतीन्द्रिय आनंद प्रगट होता है।

आत्मा के अनुभव बिना अज्ञानभाव से जीवों को केवल दुःख ही है, परंतु यह दुःख इनको दुःखरूप क्यों नहीं लगता? तो कहते हैं कि इनको सच्चे सुख का पता नहीं, इसलिये दुःख को भी यह पहिचान नहीं सकते। दुःख की मंदता (क्षीणता) में इनको सुख लगता है, अथवा साता वेदन में वह सुख की कल्पना करते हैं, परंतु यह सुख नहीं, उसमें तो दुःख है। आत्मा से ही उत्पन्न आकुलता रहित अतीन्द्रिय सुख लक्ष में ले तो मालूम हो कि निज स्वभाव के आश्रय किये बिना स्वानुभव बिना सच्चा सुख होता नहीं। स्वानुभव होते अशुद्धता दूर होकर अतीन्द्रिय आनंद प्रगट होता है। आनंद का उत्पाद, अशुद्धता और दुःख का व्यय, और ज्ञानानंद -स्वभाव की ध्रुवता, इसप्रकार उत्पाद-व्यय-ध्रुव भी आ जाते हैं।

परमात्मा को पूर्ण अतीन्द्रिय सुख है, और साधक को स्वानुभव से अतीन्द्रिय सुख का अंश प्रगट हुआ है, स्वानुभव जिसको नहीं, ऐसे जीव चारों गति में केवल दुःख को ही भोगते हैं, अंदर के परमात्मस्वरूप का ध्यान करते हुए जो सुख अनुभव में आता है, ऐसा सुख जगत में दूसरे किसी पदार्थ में कहीं भी नहीं है, विकल्पों से ऐसी कल्पना भी नहीं हो सकती। आचार्यदेव कहते हैं कि भाई, जगत के जंजाल छोड़कर, जगत का मोह छोड़कर ऐसे स्वानुभव सुख को तू अनुभव में ले। तेरी वस्तु में यह सुख नित्य भरा है, उसको स्वानुभव से प्रगट कर।

एक ओर चक्रवर्ती का वैभव, इन्द्र का वैभव, अरे! तीनों लोक की बाह्य सामग्री और दूसरी तरफ अंदर के स्वानुभव के सुख का एक अणु, तो कहते हैं कि तीन लोक की सामग्री में उक्त सुख का अणु भी नहीं, और इस सामग्री से उस सुख की कल्पना भी नहीं हो सकती। इसलिये कहते हैं कि स्वानुभव जैसा सुख जगत में कहीं भी नहीं; स्वयं के शुद्ध स्वरूप का अनुभव करते समय अतीन्द्रिय सुख मिलता है। इसलिये ऐसा शुद्ध आत्मा ही उपादेय है, और उसका ध्यान करना ही मोक्ष का उपाय है। शुद्धात्मा को ही उपादेय करना मोक्ष का उपाय है।

प्रश्न—परमात्मा को जो पूर्ण अतीन्द्रिय सुख है, और आत्मा के स्वभाव में जो पूर्ण अतीन्द्रिय सुख भरा हुआ है, उस सुख को कौन जान सकता है?

उत्तर—जिसको शुद्धस्वरूप का अनुभव है, उस ही को वह सुख मालूम होता है,

जिसने अपने स्वानुभव से अपने में उस सुख की बानगी का स्वाद लिया, वही उस पूर्ण सुख को जान सकता है। इसीलिये तो कहा है कि—**'आत्मात्मानुभवैक गम्य महिमा'**

यहाँ पर तो कहते हैं कि जिसको स्वानुभव नहीं, वह परमात्मा के सुख को पहिचानता नहीं है। भगवान को जैसा अतीन्द्रिय सुख है, ऐसे सुख के अंश को अपने में स्वानुभव से अनुभव में लिये बिना, अर्थात् अतीन्द्रिय ज्ञान से अपनी आत्मा का अनुभव किये बिना, भगवान को कैसा सुख है, इसकी पहिचान हो सकती नहीं। स्वयं केवल दुःख के स्वाद में (और इन्द्रियज्ञान में) खड़ा रहकर परमात्मा के अतीनिद्रय सुख को पहिचान नहीं सकता। जहाँ स्वानुभव हुआ और स्वानुभव के सुख का स्वाद आया, वहाँ भान (ज्ञान) हुआ कि अहो, आत्मा का ऐसा सुख!! परमात्मा को ऐसा सुख पूर्ण है, मुनिवर ऐसे स्वानुभव सुख के अनुभव में लीन हैं, समकिती जीव भी ऐसे सुख का आंशिक अनुभव करते हैं। इसप्रकार स्वानुभव होते ही सभी की सही पहिचान हो जाती है; और स्वयं भी उनकी जाति में आ गया। 'भगवान सुखी' ऐसा कहते हैं परंतु सुख का वेदन कौन सी वस्तु है, उसको तो पहिचानता नहीं, तो भगवान को भी वास्तव में पहिचानता नहीं। इसलिये शुद्ध स्वरूप का अनुभव करे, तब अतीन्द्रिय सुख स्वयं को हो, और तब ही दूसरे जीवों के अतीन्द्रिय सुख की पहिचान हो।

प्रश्न—कौन सा उपाय प्रगट करने से जीव शुद्ध हो? क्या करने से जीव शुद्ध हो?

उत्तर—शुद्ध का अनुभव प्रगट करने से जीव शुद्ध होता है। शुभाशुभराग अशुद्ध ही है अशुद्धभाव के अनुभव द्वारा कभी शुद्धता होती नहीं और शुद्धता बिना सुख नहीं। आत्मा के शुद्ध स्वरूप को अनुभव में लाना, यही शुद्धता का कारण है, और उसी से ही सुख है।

अशुद्ध का अनुभव शुद्धता का कारण किसप्रकार बनता है? अर्थात् विकल्प-राग व्यवहार उसके अनुभव से शुद्धता कैसे हो? विकल्प से पार जो शुद्ध जीव वस्तु है, उसको अनुभव में लेते हुए आत्मा के शुद्धभाव होते हैं, उसको अतीन्द्रिय सुख प्रगट होता है और वही सिद्धपद प्राप्त करता है।

जो शुद्धात्मा को जाने-अनुभव करे, वही शुद्धता को पाता है, देखो, यह शुद्धता का कारण बताया—इसके अलावा दूसरा कोई शुद्धता का कारण नहीं।

जो जीव शुद्ध बुद्धिवाला होकर निरंतर शुद्ध स्वरूप का अनुभव करे, वह अपने अचिंत्य आत्म महिमा को प्रत्यक्ष देखता है। ऐसा अनुभव करनेवाला जीव शुद्ध बुद्धि द्वारा मोह को मूल में से उखाड़ फेंकता है।

वाह ! शुद्ध स्वरूप का जो अनुभव करे, उस ही की बुद्धि शुद्ध है। निरालंबी मार्ग ! राग से भिन्न मार्ग ! वह शुद्ध स्वरूप के अनुभव द्वारा ही प्राप्त होता है। शुद्ध बुद्धि जहाँ जोर से अंतर में गई, वहाँ मोह को हटा दिया, मोह को मूल में से उखाड़ कर, उसको भेदकर ज्ञानी शुद्ध बुद्धि द्वारा तत्काल आत्मा का अनुभव करे। राग में रुक जाये, उसको शुद्ध बुद्धि नहीं कहते, उसमें मोह को तोड़ने का जोर (शक्ति) नहीं; और बुद्धि शुद्ध होकर जहाँ अंतर में गई, वहाँ उस शुद्ध बुद्धि में आत्मा तरफ का ऐसा बल प्रगट हुआ कि उस बल से मिथ्यात्वादि परिणामों को मूल में से उखाड़ कर नाश कर डाला।

देखो, यह मिथ्यात्व के नाश का और स्वभाव का अनुभव करने की रीत ! स्वभाव का अनुभवशील और विभाव का क्षयकरणशील (करनेवाला) भगवान आत्मा स्व-बल से जागृत हुआ, वहाँ मोह रहता नहीं। यह चौथे गुणस्थान के सम्यक्त्व की बात है। आत्मा स्व-घर में प्रवेश करे, उसकी बात है। आत्मा निज घर में आया, वहाँ उसके अनुभव में मोह रहता नहीं। इसका नाम धर्म, इसका नाम मोक्ष का मार्ग।

अनादि का मिथ्यादृष्टि जीव जब स्वानुभव तरफ का प्रयत्न धारण करने की तैयारीवाला होता है, तब स्वानुभूति और सम्यक्त्व होने से प्रथम (पूर्व) अंतर्मुहूर्त में उसके परिणाम की ऐसी विशुद्धि होती है कि तीन करण (अधःकरण अपूर्वकरण-अनिवृत्तिकरण) होते हैं, और उससे मिथ्यात्व मोह की शक्ति का नाश हो जाता है (उसका संक्रमण उपशम क्षयोपशम आदि हो जाता है) और सम्यग्दर्शन प्राप्त करता है; इस सम्यग्दर्शन में कैसी स्वानुभूति है, उसका यह वर्णन है। तीन करण के परिणाम द्वारा भावमिथ्यात्व के परिणाम भी मिट जाते हैं, और निमित्त में मिथ्यात्व कर्म की शक्ति भी मिटती है; वहाँ जीव के परिणाम इतने विशुद्ध होकर स्वानुभव की ओर झुक रहे हैं।—ऐसी दशा हो, तब काललब्धि परिपक्व हुई—ऐसा भी कहने में आता है। जिसप्रकार धतूरा पीकर जीव पागल हो जाता है, और नशा दूर होने पर सावधान होते ही पागलपन दूर हो जाता है, इसीप्रकार अनादि काल से मिथ्यात्वरूपी धतूरा पीकर जीव पागल भ्रमित होकर, राग को भला मानता है, पर को अपना मान रहा है और निज स्वरूप को भूल रहा है। परंतु जब शुद्ध दृष्टि से स्वानुभवरूपी अमृत का पान किया, वहाँ मिथ्यात्वरूपी भ्रम से पृथक् हो गया, और भ्रम को छोड़कर जीव ने निज स्वरूप की संभाल की।—ऐसे स्वानुभव की अपार महिमा है।

भूत-वर्तमान और भावि—ऐसे तीनों काल के बंधन को, तीनों काल की एकत्वबुद्धिरूप मोह को, शुद्ध बुद्धि द्वारा भेदकर जीव शुद्ध स्वरूप का अनुभव करता है। हठपूर्वक अर्थात् अंतर के तीव्र उद्यमपूर्वक जीव मोह को दूर करके तीन काल के बंध से अपने को भिन्न अनुभव करता है। इसप्रकार शरीरादि से एकत्वबुद्धि के तीनों काल के संस्कार को अंतर के अभ्यास द्वारा दूर कर, जीव जब शुद्धस्वरूप का अनुभव करता है, तब वह जीव निश्चय से कर्मों से मुक्त हो जाता है; सर्व कर्मों से मुक्त नित्य निरंजन इस आत्मा को जो जीव शुद्ध दृष्टि से अनुभव करते हैं, वह सर्व कर्मों से मुक्त होता है। इसप्रकार स्वानुभव वही मोक्ष का पंथ है।

स्वानुभूति में वर्तमान में ही अपना अचिंत्य महिमावंत आत्मदेव सर्व कर्मों से भिन्न अनुभव में आता है। यह अनुभव ज्ञान और आनंद सहित होता है। ऐसे शुद्ध आत्मा के अनुभव द्वारा ही पर्याय में क्रम-क्रम से शुद्धता की प्राप्ति होती है। सम्यग्दर्शन से लेकर सिद्धपद तक का मार्ग स्वानुभूति में आ जाता है।

शुद्धनय स्वरूप जो आत्मा की अनुभूति है, उस अनुभूति में सभी आ जाता है।

जीवन में विजय

प्रेषक - महेन्द्र जैन 'प्रेम', आगरा (आयु-१५ वर्ष)

रावण की मृत्यु के पश्चात् राम को देखने की इच्छा से मन्दोदरी ने आकर राम से कहा 'महाराज! कैलाशपर्वत को हिला देनेवाले प्रचण्ड बली 'विद्याधर' मेरे पति (रावण) को आप जैसे जंगल में अपना समय काटनेवाले साधनविहीन व्यक्ति कैसे हरा सके हैं, इस बात पर मुझे बड़ा आश्चर्य और कौतूहल हो रहा है?' मन्दोदरी को बिना देखे नीचे दृष्टि किये हुये राम ने उत्तर दिया—'महारानी! ऐसा ही होनहार था, इसीकारण ये सब निमित्त जुट गये। होनहार को कौन मिटा सकता है?'

मन्दोदरी ने राम की तरफ देखा कि वह दृष्टि ऊपर उठाकर मुझे देख भी नहीं रहे हैं, तब वह बोल उठी। राजन्! मैं समझ गई....!

इतनी पावन दृष्टि जिसकी, परनारी न निरखे भूल।
विजय सदा उसके जीवन में, और भाग्य होगा अनुकूल॥

समयसार का जो अभ्यास करेगा उसका मोह नष्ट हो जायेगा।

शुद्धात्मा के मंथन से परिणति की शुद्धता

[कलश टीका-प्रवचन]

पर परिणतिहेतोर्मोहनाम्नोऽनुभावात् अविरतमनुभाव्यव्याप्तिकल्माषितायाः।
मम परमविशुद्धिः शुद्धचिन्मात्रमूर्तेर्भवतुसमयसारव्याख्ययैवानुभूतेः ॥३॥

आत्मा के परमार्थ स्वरूप को बतलानेवाला यह समयसार शास्त्र, उसकी टीका लिखते हुए आचार्य अमृतचंद्र सूरि कहते हैं कि इस समयसार के उपदेश से, अर्थात् उसमें कहा गये शुद्ध आत्मस्वरूप के मंथन से मेरी परिणति परम विशुद्ध बनो। इतनी शुद्धि तो हुई है, इससे और अधिक उत्कृष्ट शुद्धि बनो। देखो, यह समयसार के टीकाकार की भावना! टीका के समय विकल्प तो है, परंतु भावना विकल्प की तरफ जाती नहीं, भावना तो शुद्धात्मा तरफ ही झुकती है। 'समयसार' को नमस्कार करके अर्थात् शुद्धात्मा की ओर परिणति को झुकाकर मंगल किया है। अब मेरी पर्याय शुद्धात्मा की ओर उग्रता से झुकती रहे। श्रुत की टीका के समय अंतर के भावश्रुत में बारंबार शुद्धात्मा के मंथन से परिणति शुद्ध होती ही जाती है।

यह समयसार जैसा परम आध्यात्म शास्त्र, वह परमार्थ स्वरूप को बतलानेवाला है, और पर की ओर से परम वैराग्य करानेवाला है, ऐसे शास्त्र के मंथन से परिणति शुद्ध किस प्रकार न हो?—अर्थात् जरूर शुद्ध होती ही है। यह शास्त्र समस्त पर तरफ से वैराग्य उत्पन्न कराता है, कहीं भी पराश्रय और राग का पोषण करने में नहीं आया। शुद्धात्मा का परमार्थ स्वरूप बतलाकर स्वाश्रय कराता है, जिससे इसके अभ्यास से भावश्रुत की निर्मलता होती जाती है, वीतरागता की वृद्धि से परिणति शुद्ध बनती जाती है।

स्वभाव से तो मैं शुद्ध चिन्मात्र हूँ—इसप्रकार स्वरूप की दृष्टि सहित आचार्यदेव ने परिणति की पूर्ण शुद्धता की भावना की है। इसप्रकार कथन करके शुद्ध द्रव्य और पर्याय दोनों का ज्ञान करवा दिया। वस्तु से तो मैं शुद्ध चैतन्य मूर्ति, रागादि उपाधिरहित, सुख का पुंज

हूँ—ऐसा निज स्वरूप का भान तो है, साधकदशा है, परंतु वर्तमान पर्याय में थोड़ा बहुत अशुद्धता का प्रवाह अनादि काल से चला आ रहा है, इस अशुद्धता का नाश होकर शुद्धात्मा के मंथन द्वारा मेरी परम विशुद्धि प्रगट होगी।

अशुद्धता का निमित्त मोहकर्म है, और शुद्धता का कारण शुद्धात्मा की भावना है। अब मेरी परिणति इस समयसार की टीका से, टीका में कहे गये शुद्धात्मा के मंथन से, शुद्धात्मा तरफ झुकती है, और मोहनीय के उदय तरफ परिणति झुकती नहीं, अर्थात् मोह का नाश होकर परिणति शुद्ध होती जाती है और जो कोई श्रोता इस समयसार टीका में कहे हुए भावों का भाव-श्रुत द्वारा मंथन करेगा, उसके भी मोह का नाश हो जायेगा, जिससे सम्यक्त्वादि शुद्ध परिणति प्रगट होगी। 'मेरे और पर के मोह को नाश करने के लिये मैं यह समयसार कहता हूँ' इस प्रकार कहकर आचार्यदेव ने इस शास्त्र का उत्तम फल बतलाया है। आत्मा का शुद्ध स्वरूप बतलाकर यह शास्त्र मोह को नाश करनेवाला है।

यह आत्मवस्तु ज्ञानस्वरूप और सुखस्वरूप है; पर्याय में से अशुद्धता का नाश होते ही उस ज्ञान को सुख प्रगट होता है। अपने स्वभाव में था, वही पर्याय में प्रगट होता है।

प्रश्न—जीव का स्वभाव तो शुद्ध है; पर्याय में अनादि से इसको जो अशुद्धता है, वह अशुद्धता में किसी प्रकार निमित्तमात्र है कि नहीं ? स्वाधीन वस्तु स्वयं विकाररूप परिणमित हुई, उसमें कोई निमित्त है कि नहीं ?

उत्तर—हाँ, निमित्तमात्र भी है-निमित्त कौन है ? तो कहते हैं कि मोहकर्म के उदय का विपाक अशुद्धता का निमित्त है। जीव के अशुद्धभावों से पूर्व में बँधा हुआ जो मोहकर्म, उस उदयकाल के समय अशुद्धता का निमित्त है परंतु यहाँ तो कहते हैं कि शुद्धात्मस्वभाव के मंथन के कारण शुद्धता बढ़ने पर वह मोह अशुद्धता का निमित्त हुए बिना ही नष्ट हो जाता है। समयसार की टीका करते-करते भावश्रुत में शुद्धात्मा का ऐसा जोरदार मंथन चलता है कि परिणति शुद्ध हो जाएगी और मोह की मलिनता उसमें से निकल जायेगी। परिणति का शुद्ध स्वरूप में ही व्याप्य-व्यापकपना हो जायेगा अर्थात् अशुद्धता के साथ का व्याप्य-व्यापकपना मिट जायेगा। शास्त्र का ऐसा फल है। अर्थात् ऐसा भाव जो प्रगट करे, वही इस शास्त्र को समझा कहा जाता है। अहो, आत्मा को निहाल कर दे, ऐसे भाव संतों ने इस शास्त्र में भरे हैं; यह तो भागवत शास्त्र है, भगवान आत्मा का भागवत है।●●

कब मुझे समकित मिलेगा

[१]प्राण मेरे तरसते हैं, कब मुझे समकित मिलेगा।
कब स्वयं से प्रीत होगी, कब मुझे निजपद मिलेगा॥

अरे काल अनादि से मैं, धर्म सुनता आ रहा हूँ।
किंतु फिर भी आस्रवों की, जाल बुनता जा रहा हूँ॥
दिव्यध्वनि के शब्द मेरे, कर्ण में तो गूँजते हैं।
किंतु मेरे हृदय में आकर, नहीं क्यों कूजते हैं॥

भव्य वेला आयेगी कब, मन कमल यह कब खिलेगा।
कब स्वयं से प्रीत होगी, कब मुझे निजपद मिलेगा॥१॥

यह न सोचा आत्मा तो, ज्ञान का सागर स्वयं है।
शुद्ध ज्ञाता विमल दृष्टा, गुण अनंत अतुल नियम है॥
कर्म रज से यह मलिन है, किंतु कंचन सम खरा है।
जगत में सुख खोजता जब, सुख स्वयं में ही भरा है॥

कर्म रिपु का नाश करने, कब निजस्थल में चलेगा।
कब स्वयं से प्रीत होगी, कब मुझे निजपद मिलेगा॥२॥

लिप्त है व्यवहार में नित, नहीं निश्चय दृष्टि इसकी।
बढ़ रही कर्माभिनय से, नित्य प्रति ही सृष्टि इसकी॥
इस प्रकार अनंत भव, धर धर भटकता जा रहा है।
शुभ अशुभ के बंधनों, में ही अटकता जा रहा है॥

नष्ट कब मिथ्यात्व होगा, दीप समकित कब जलेगा।
कब स्वयं से प्रीत होगी, कब मुझे निजपद मिलेगा॥३॥

निर्जरा, संवर, न समझा, आश्रव मलों में धर्म माना।
रही मिथ्यादृष्टि मेरी, धर्म का ना मर्म जाना।

---

१. चेतनारूपी भावप्राण

पुण्य से ही मोक्ष होगा, यही अब तक मानता था।
राग पर से कर रहा था, स्व-पर भेद न जानता था।

दूर होगी भूल कब यह, ज्ञान कब उर में झिलेगा।
कब स्वयं से प्रीत होगी, कब मुझे निजपद मिलेगा॥४॥

बिना समकित आत्मा का, रे नहीं उद्धार होगा।
बिना समकित धर्म से तो, मूढ़ निष्फल प्यार होगा॥
मुक्ति पथ को धारने की शक्ति मुझमें ही भरी है।
पर कुमति ने बुद्धि सारी, मोह माया से हरी है॥

कब सुमति का ध्यान होगा, ज्ञान दीपक कब बलेगा।
कब स्वयं से प्रीत होगी, कब मुझे निजपद मिलेगा॥५॥

यदि न चेता तूँ अभी भी, फिर न यह अवसर मिलेगा।
भ्रमण गति गति का करेगा, बोधिदुर्लभ क्यों मिलेगा?॥
परिग्रहण भूतार्थ का कर, तो सफल जिनवाणि तेरे।
जाग रे जिय चेतरे अब, नींव जड़ता की हिली रे॥

तत्त्व का श्रद्धान कर ले, रत्न समकित झिलमिलेगा।
कब स्वयं से प्रीत होगी, कब मुझे निज पद मिलेगा॥६॥

कब मुझे समकित मिलेगा?

—राजमल पवैया, भोपाल

धन्य हैं वे वैरागी!

रागी और अरागी जीव की विचारधारा में कितना अंतर है, वह निम्नोक्त पंक्तियों द्वारा कवि श्री भूधरदासजी प्रगट करते हैं:—

राग उदै भोगभाव लागत सुहावने से,
बिना राग ऐसे लागें जैसे नाग काले हैं।
रागहीसों लग रहे तन में सदीव जीव,
राग गये आवत गिलानी होत न्यारे हैं।
राग सो जगत रीति झूठी सब सांची जाने,
राग मिटे सूझत असार खेल सारे हैं।
रागी बिनरागी के विचार में बड़ोई भेद,
जैसे भटा पचें काहु काहू को बयारे हैं।

जगत में राग के वशीभूत प्राणी असार को भी सार, क्षणिक को भी शरणभूत और वीभत्स को भी सुंदर मानता है, राग के वशीभूत प्राणी को भोग-विलास अच्छे लगते हैं, जबकि राग के अभाव में वे काले नाग जैसे मालूम होते हैं। राग के ही कारण जीव सदैव शरीर के लालन-पालन में लग रहा है; परंतु राग छूटने पर उसे शरीर के प्रति ग्लानि होती है और उससे भिन्नता का चिंतवन करता है। राग के कारण जगत की झूठी रीतियों को वह सच्ची जानता है परंतु राग मिटने पर वे सभी खेल उसे असार भासित होने लगते हैं। इसप्रकार रागी और अरागी जीव की विचारधारा में बड़ा भेद है। जिसप्रकार अमुक भोजन किसी को तो पच जाता है और किसी को प्रतिकूल पड़ता है, उसीप्रकार जगत की एक वस्तु को ज्ञानी तो वैराग्य का हेतु बनाते हैं और अज्ञानी उसे राग का हेतु बनाते हैं। इसप्रकार ज्ञानी और अज्ञानी की परिणति में महान अंतर है। धन्य हैं वे वैरागी ज्ञानी कि जिन्हें सर्व प्रसंगों पर ज्ञान-वैराग्यमय परिवर्तन वर्त रहा है।

ज्ञान महिमा

[हे जीव! ज्ञान में स्थिर हो, तभी ज्ञेयों का पार पायेगा]

बहुतों को **प्रश्न** उठता है कि—आकाश अनंत है तो वह ज्ञान में किसप्रकार ज्ञात होगा ? काल अनादि-अनंत है, वह ज्ञान में कैसे ज्ञात होगा ? ज्ञात हो तो उसका अंत आ जाये !

समाधान—प्रथम तो आकाश और काल की अनंतता की अपेक्षा ज्ञान सामर्थ्य की अनंतता अधिक है—यह बात लक्ष में लेना चाहिये।

दूसरे, कोई भी वस्तु ज्ञान में प्रमेय हो, इसलिये वह मर्यादित हो जाती है, ऐसा कोई नियम नहीं है। ज्ञेय की अनंतता ज्ञान में ज्ञात होने से कहीं वह अनंतता मिटकर सांत नहीं बन जाती। अमर्यादित वस्तु मर्यादित नहीं बन जाती;—अमर्यादित ज्ञान सामर्थ्य उसकी अपेक्षा भी अधिक है। उस अमर्याद ज्ञान सामर्थ्य की दिव्यता लक्ष में आये, तभी (अनंत आकाश, अनादि -अनंत काल आदि) अमर्यादित वस्तुओं का प्रमेयत्व ज्ञान में किसप्रकार है, वह ख्याल में आ सकता है। जब तक ज्ञान की दिव्य महिमा भासित न हो, तब तक यह बात नहीं बैठ सकती। **आकाश की अनंतता की अपेक्षा ज्ञान सामर्थ्य की अनंतता विशाल है**—ऐसे सामर्थ्य की महिमा भासित होना चाहिये। स्वसन्मुखता से ही वह भासित होती है। इसलिये आकाश का प्रमेयत्व निश्चित करने से पूर्व आत्मा की ओर मुड़कर उसे प्रमेय करना चाहिये।

भाई, तुझे आकाश की अनंतता की महिमा आती है, तो उस अनंतता को अनंतरूप से अपने में ज्ञेयरूप से समा देनेवाले (जान लेनेवाले) ज्ञान-सामर्थ्य की अनंतता की महिमा क्यों नहीं आती ? ज्ञान के दिव्य अपार सामर्थ्य का तुझे पता नहीं है, इसलिये मानों ज्ञान की अपेक्षा ज्ञेय बहुत बड़े हों और ज्ञान छोटा हो-ऐसा तुझे लगता है; इसलिये ज्ञान की अपेक्षा ज्ञेयों की महिमा तुझे अधिक लगती है... और तू ज्ञान-स्वभाव की ओर नहीं ढलता।

यदि आकाश उसके क्षेत्र सामर्थ्य से अनंत है तो आत्मा अपने ज्ञान सामर्थ्य से अमाप है। आकाश के अनंत क्षेत्र के विभाग प्रदेशों की संख्या की अपेक्षा आत्मा के एक-एक गुण के अनंत सामर्थ्यमय एक एक पर्याय के अविभाग अंश अनंतगुने हैं। आकाश क्षेत्र की अनंतता की अपेक्षा ज्ञान सामर्थ्य की अनंतता बहुत विशाल महिमावान है।

आकाश में बढ़ने की अपेक्षा ज्ञान में स्थिर हो... (तो ज्ञेयों का भी पार प्राप्त होगा।)

[—रात्रि चर्चा से]

प्रवचन-वाटिका से चुने हुए पुष्प

❀ हे जीव! जन्म-मरण का अंत लाने के लिये सम्यग्दर्शन प्रगट कर।

❀ सम्यग्दर्शन कहाँ से निकलता है?

सम्यग्दर्शन आत्मा के श्रद्धागुण से निकलता है। श्रद्धागुण का स्वाश्रित सम्यक् परिणमन ही सम्यग्दर्शन है।

❀ अपनी बुद्धि को स्व-प्रयोजन साधने में लगा। काल थोड़ा और बुद्धि अल्प, उसे इधर-उधर व्यर्थ मत गँवा। ऐसे तत्त्व में ही अपनी बुद्धि को लगा कि जिससे जन्म-मरण का अंत आये।

❀ दु:ख कैसे दूर होता है? कि पर की पकड़रूप ममत्व छूटे तो दु:ख दूर हो। जिसप्रकार बंदर ने बेर लेने के लिये घड़े में हाथ डालकर मुट्ठी भरी; बेर पकड़ रखे हैं, इसलिये हाथ बाहर नहीं निकलता; ....किसी भूत ने उसे नहीं पकड़ा है; मुट्ठी में बेरों को छोड़ दे तो हाथ तुरंत बाहर निकल आये; उसीप्रकार अज्ञानी ने 'पर मेरा है' ऐसी मान्यता की मुट्ठी बाँध रखी है, इसलिये दु:खी हो रहा है, कोई दूसरा उसे दु:खी नहीं करता। मान्यता में से पर की पकड़ छोड़ दे तो संयोग से तो वह पृथक् ही है; मोह का दु:ख था, वह मोह छूटने से मिट जाता है। चैतन्यस्वभाव जगत से पृथक् का पृथक् है-उसे पहिचाने तो मोह छूट जाये, दु:ख मिटे और स्वाभाविक आनंद का वेदन हो। इसप्रकार पर की पकड़रूप ममत्व छूटे तो दु:ख मिट जाये। यही दु:खों से छूटने तथा सुखी होने का उपाय है।

❀ आत्मा का भूषण अर्थात् आत्मा की शोभा तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र से है। जिसने आत्मस्वभाव को स्वानुभव में लेकर सम्यक्त्वादि प्रगट किये, वह धर्मात्मा आत्मभूषण हुआ... उसका आत्मा स्वयं अपने से ही शोभायमान हो उठा।

❀ भरत चक्रवर्ती जैसे धर्मात्मा छह खंड के राज-वैभव में रहते हुए भी उनकी श्रद्धा में अपने आत्मवैभव के सिवा एक रजकणमात्र की भी पकड़ नहीं थी। जो मर्यादित राग था, उस राग की भी पकड़ नहीं थी... मेरा स्वभाव तो राग से भी ऊपर का ऊपर तैरता है - ऐसी आत्मप्रतीति वर्तती थी।

❀ अज्ञानी को बाहरी संयोग कदाचित् कम हों, बाह्य में भले ही त्यागी दिखता हो, परंतु अंतर के अभिप्राय में 'यह शुभराग मेरे आत्मा को धर्मलाभ करेगा'—ऐसी राग की पकड़ होने से अनंत परद्रव्यों के परिग्रह की पकड़ उसे वर्तती है। मेरा ज्ञानस्वभाव राग में नहीं है परंतु उससे पृथक् ऊपर का ऊपर तैरता है-ऐसी आत्मप्रतीति उसे नहीं है, निज वैभव की उसे खबर नहीं है - उसे धर्म कहाँ से होगा ?

❀ अज्ञानी ध्यान कर सकता है ?

हाँ, वह आर्तध्यान या रौद्रध्यान कर सकता है; उसका ध्यान राग में या द्वेष में लीनतारूप है।

❀ ज्ञानी का ध्यान कैसा होता है ?

राग से भिन्न चिदानंदस्वभाव में उपयोग की एकाग्रता, वह ध्यानी का ध्यान है। धर्मात्मा को गृहस्थपने में भी कभी-कभी ऐसा ध्यान होता है। भेदज्ञान के बिना धर्मध्यान नहीं होता।

❀ कोई कहे कि हमें धर्मध्यान का समय नहीं मिलता; तो कहते हैं कि अरे भाई! दूसरे सब कार्यों का समय तो तुझे मिलता है और यहाँ धर्म कार्य में तुझे समय नहीं मिलता—यह तेरी बात झूठी है; तुझे दूसरे कार्यों की रुचि है और आत्मा की रुचि नहीं है, इसलिये उसमें तू अपने उपयोग को नहीं जोड़ता और अन्यत्र उपयोग को लगाता है। धर्मध्यान का समय न मिलने का तो सिर्फ बहाना है, वास्तव में तुझे धर्म की रुचि ही नहीं है। अमेरिका में, रशिया में या दिल्ली में क्या होता है—वहाँ की निष्प्रयोजन बातें जानने का तुझे समय मिलता है, विकथा के लिये समय मिलता है और सत्संग द्वारा आत्मा का अभ्यास करने का तुझे समय नहीं है... तो हम कहते हैं कि तुझे आत्मा की रुचि ही नहीं है। रुचि हो, वहाँ समय न मिले, ऐसा नहीं हो सकता। चक्रवर्ती जैसों को आत्मा के ज्ञानध्यान का समय मिलता था तो तेरे पास क्या सामग्री है कि तुझे समय नहीं मिलता ? इसलिये यह झूठा बहाना छोड़कर आत्मा का प्रेम प्रगट करके उत्साहपूर्वक उसके ज्ञान-ध्यान में अपने उपयोग को लगा तो अवश्य ही तेरा हित होगा।

जिन-वचन का सार

[कलश टीका-पर-प्रवचन]

जिनवचन में अर्थात् दिव्यध्वनि द्वारा कहे गये शुद्ध आत्मस्वरूप में जो जीव रमण करते हैं, उसकी रुचि-प्रतीति अनुभव करते हैं, वह जीव शीघ्र ही अंतर में शुद्ध जीव को प्रत्यक्ष रूप से प्राप्त करते हैं - यह बात चौथे कलश में कहते हैं—

उभयनय विरोधध्वंसिनि स्यात्पदाङ्के जिनवचसि रमन्ते ये: स्वयं वांतमोहाः।
सपदि समयसारं ते परं ज्योतिरुच्चैरनवमनयपक्षाक्षुण्णमीक्षन्त एव ॥४॥

वह आसन्न भव्य जीव शीघ्र ही शुद्ध स्वरूप को प्रत्यक्षरूप से प्राप्त करते हैं—देखते हैं, अनुभव करते हैं। - कौन ? कि जो दिव्यध्वनि में कही हुई उपादेयरूप शुद्ध जीव वस्तु को रुचि में-प्रतीति में लेते हैं, वह शीघ्र ही शुद्धात्मा को प्राप्त करते हैं।

कैसा है शुद्ध जीव ? अतिशययुक्त ज्ञानज्योतिरूप है। ऐसे आत्मा के अनुभव बिना अनंत काल चला गया, परंतु इसका अनुभव करते अनंत काल नहीं लगता, स्वसन्मुख अभ्यास द्वारा क्षणमात्र में तुरंत ही अनुभव में आता है।

सम्यग्दर्शन हुआ, वहीं शुद्धात्मा की प्रत्यक्ष प्राप्ति होना कह दिया है। राग और मन के अवलंबन बिना आत्मा का साक्षात्कार हुआ, उसके आनंद का अनुभव हुआ, वहाँ उसकी प्रत्यक्ष प्राप्ति हो गई—ऐसा कहा। स्वानुभूति में आत्मा आया, वह कोई नया नहीं आया, वह तो अनादि से स्वयंसिद्ध ही था, स्वयं को व्यक्त अनुभव नवीन हुआ, वस्तु कोई नवीन नहीं हुई है। जैसे कुमतवाले कोई एकांत क्षणिक कहते हैं, कोई एकांत अपरिणामी कहता है, कोई आत्मा नया उत्पन्न हुआ ईश्वर ने बनाया, ऐसा अनेक प्रकार से कुनय के पक्षपात करनेवाले कहते हैं। परंतु इसप्रकार कहने से अनेकांतस्वरूप आत्मा का जो स्वरूप है, वह कोई खंडित नहीं होता। जो लोग उल्टा मानते हैं, वह झूठे हैं, परंतु वस्तुस्वरूप तो जैसा है, वैसा स्व-स्वरूप से सत् अखंडित है।

ऐसे स्वरूप को भव्यजीव ही प्राप्त करते हैं। क्या करने से प्राप्त करते हैं ? कौन सी क्रिया करने से शुद्धात्मा को प्राप्त करते हैं ?—तो कहते हैं कि दिव्यध्वनिरूप जिन वचन में कहे गये

उपादेयरूप शुद्धात्मस्वरूप में वह रमण करते हैं, अर्थात् उसकी रुचि करके उसमें एकाग्रता का बारबार अभ्यास करते हैं—इसप्रकार जिनवचन में (अर्थात् जिनवचन का सारभूत शुद्धात्मा में) जो रमण करते हैं, वह तुरंत ही शुद्धात्मा का अनुभव करते हैं।

देखो, यह जिनवचन का सार!

जिनवचन का सार क्या? कि शुद्धात्मा को उपादेय करना यह; राग-व्यवहार-निमित्त इन सभी का ज्ञान जिनवचन करवाते हैं, परंतु इनको उपादेय करने का जिनवचन नहीं कहते; इस राग-व्यवहार या निमित्त के अवलंबन में लाभ मानकर रुके रहने को जिनवचन नहीं कहते; राग से पार, निमित्त से पार, व्यवहार से पार ऐसा जो परमार्थभूत शुद्धात्मा, वही प्रथम से अंत तक उपादेय है—ऐसा जिनवचन का उपदेश है। जिसने शुद्धात्मा को उपादेय किया, उसने ही जिनवचन सुना है। वह जीव तुरंत ही शुद्धात्मा को साक्षात् अनुभव करता है।

अकेला जिनवचन अर्थात् दिव्यध्वनि वह तो पुद्गल की रचना है, अचेतन है, उसके लक्ष से कोई स्वरूप की प्राप्ति होती नहीं; परंतु उसके वाच्यरूप जो उपादेय वस्तु अर्थात् कि-परमार्थ आत्मस्वभाव-इसके लक्ष से अनुभव करते सच्चे फल की प्राप्ति होती है। शुद्धात्मा के अनुभव बिना फल प्राप्ति होती नहीं, मोक्षमार्ग होता नहीं, धर्म होता नहीं।

स्वानुभव बिना की श्रद्धा को सच्ची श्रद्धा कहते नहीं। स्वानुभव बिना मात्र शास्त्रज्ञान को सच्चा ज्ञान कहते नहीं। भाई! तेरी वस्तु क्या है? तेरी वस्तु तरफ झुके बिना किसकी प्रतीति की? किसकी रुचि की? राग के द्वारा वस्तु मिलेगी—इसप्रकार जो मानता है, उसके अंतर में राग की उपादेयबुद्धि है, परंतु जिनवाणी में उपादेयरूप कहे गये शुद्धात्मा को वह जानता नहीं। शुद्धात्मा के अलावा दूसरे रागादिक को जो उपादेय मानता है, वह जिनवचन से विरुद्ध वर्तता है।

किसप्रकार के हैं जिनवचन? दोनों नयों का विकल्प दूर करके शुद्धवस्तु का निर्विकल्प अनुभव कराते हैं। दोनों नयों की परस्पर विरुद्धता-एक नय का विकल्प इसप्रकार है कि वस्तु द्रव्यरूप है, दूसरे नय का विकल्प ऐसा है कि वस्तु पर्यायरूप है—ऐसे नय विकल्पों द्वारा वस्तु अनुभव में आती नहीं। दोनों नयों की विरुद्धता को दूर करके, और शुद्धात्मा का आश्रय करवाकर जिनवचन शुद्धस्वरूप का निर्विकल्प अनुभव करवाते हैं।

देखो, इस कलश टीका में अध्यात्म के सुंदरभाव प्रगट किये हैं। पंडित बनारसीदासजी

के समय में इस ग्रंथ का अभ्यास करनेवाले साधर्मी कहते थे कि—'सरस सरस यह ग्रंथ'

शुद्ध जीवस्वरूप के अनुभव के समय दोनों नयों का विकल्प दूर हो जाता है, इसलिये अनुभवदशा में दोनों नयों के विकल्प झूठे हैं।—असत् हैं। अनुभव में तो द्रव्य-गुण-पर्याय सभी है, परंतु उसमें विकल्प नहीं है; विकल्प को असत् कहा है, पर्याय को असत् नहीं ठहराया, पर्याय तो अंदर अभेद हो गई है, और विकल्प टूट गया है। निश्चयनय का जो विषय है, वह कोई झूठा नहीं है, परंतु अनुभव दशा में उसका विकल्प नहीं है, इसलिये विकल्प झूठा कहा गया है। इसप्रकार के अनुभव से मिथ्यात्व का सहजता से वमन हो जाता है। जहाँ आत्मा के स्वभाव को उपादेय बनाकर परिणति उस तरफ गई, वहाँ मिथ्यात्व सहजरूप से दूर हो गया। परिणति को अंतर अनुभव में लाये बिना लाख उपाय से भी मिथ्यात्व दूर होता ही नहीं, और परिणति जहाँ अंतर स्वभाव में गई, वहाँ मिथ्यात्वभाव सहज ही दूर हो जाता है, वहाँ पर उसको दूर करने का पृथक् से प्रयत्न करना नहीं पड़ता।

इस समयसार में उपादेयरूप शुद्ध जीववस्तु बतलाई गई है। इसके अनुभव से मोह का नाश होता है, यह इस शास्त्र का फल है।

जगत में अनंतानंत जीव हैं; उनमें अनंतवें भाग के जीव तो अभव्य हैं, वह कभी मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकते, कारण कि वे शुद्धात्मा के अनुभव से रहित हैं; अब भव्य जीवों में भी कोई सभी जीव मोक्ष प्राप्त नहीं कर लेते, उनमें से कितनेक जीव तो मोक्ष के अधिकारी हैं, उन मोक्षगामी भव्य जीवों के मोक्ष में जाने के समय की अवधि निश्चित है, उसको केवली भगवान जानते हैं। जो मोक्ष को प्राप्त होंगे, वह शुद्धात्मा के अनुभव से ही मोक्ष को प्राप्त करेंगे। कौन सा जीव कितना समय बीतने पर मोक्ष प्राप्त करेगा, इस प्रकार का हिसाब (नोंध) केवलज्ञान में है, अथवा केवलज्ञानी के ज्ञान में सभी लिखने में आ गया है—जानने में आ गया है।

अहा! अनंत जीव, उनकी तीनों काल की समस्त अवस्था जिसमें साक्षात् जानने में आवे—ऐसे केवलज्ञान की शक्ति की क्या बात! ऐसे केवलज्ञान की अचिंत्य महिमा जिस ज्ञान में जमी, वही ज्ञान भी केवलज्ञान की जाति का होकर मोक्षमार्ग तरफ चलने लगा।

जिस जीव ने केवलज्ञान की प्रतीति की, सम्यग्दर्शन किया, उस जीव को अब अर्धपुद्गलपरावर्तन से अधिक संसार स्थिति होती ही नहीं, उसका संसार मर्यादित हो गया। सम्यक्त्व के योग्य जीव हुआ, वहाँ काललब्धि परिपक्व हो गई—ऐसा कहने में आता है।

इसप्रकार पुरुशार्थ और काललब्धि दोनों शामिल ही हैं। जिसके ज्ञान में केवलज्ञान के सामर्थ्य का निर्णय हुआ, उसकी अल्प काल में मुक्ति केवलज्ञान में लिखी हुई है। जिस ज्ञान ने केवलज्ञान का निर्णय किया, वह ज्ञान राग से पृथक् होकर निजस्वभाव तरफ चला–उसको सम्यक्त्व होगा... होगा... और होगा ही।

द्रव्यस्वभाव तरफ झुकने पर वहाँ पर्याय में सम्यक्त्व की काललब्धि आ ही जाती है। इसके सिवाय दूसरे करोड़ों उपाय बाहर में करता रहे तो भी सम्यक्त्व होता नहीं, सम्यक्त्व वह सहज वस्तु है, बाहर के प्रयत्नों द्वारा वह साधी नहीं जा सकती, विकल्परूप प्रयत्नों के द्वारा स्वानुभव होता नहीं, स्वानुभव सहज है अर्थात् परिणति स्वरूप में प्रवेश हो गई, वहाँ पुरुषार्थ का भी विकल्प नहीं है—ऐसी सहज परिणतिरूप सम्यक्त्व है, इसप्रकार का आशय समझना।

धन्य वही जीव जे भये तमासगीर हैं

(कवित्त)

केई भये राव केई रंक भये विललात, केई भये कायर और केई भये धीर हैं।
केई भये चंद्र केई चंद्र छविवंत लसै, केई भये पौन अरु केई भये नीर हैं।
एक चिदानंद केई स्वांग में कल्लोल करै, धन्य वही जीव जे भये तमासगीर हैं।

तुझे शर्म नहीं आती

अरे, चैतन्य प्रभु! अपनी एक शक्ति की एक टंकार से तू केवलज्ञान प्राप्त करे – ऐसी तेरी शक्ति है और तू कहता है कि मुझे अपना स्वरूप समझ में नहीं आता! ऐसा कहते हुए तुझे शर्म नहीं आती? और भव के अभाव की बात सुनकर तुझे थकावट लगती है? अरे, साधक दशा के तेरे एक विकल्प की इतनी शक्ति है कि इन्द्र के इन्द्रासन को भी एकबार तो हिला दे... जन्म लेते ही तीन लोक के क्षणभर के लिये खलबली मचा दे... इतनी तो तेरे एक विकल्प की शक्ति है, तब फिर संपूर्ण पवित्रस्वभाव की कितनी शक्ति होगी? ऐसा शक्तिवान होकर तू कहे कि तुझे अपना स्वरूप समझ में नहीं आता!.....ऐसा कहते हुए तुझे शर्म नहीं आती?

समस्त जगत आत्मा का अनुभव प्राप्त करो

स्वयं शुद्धात्मा का अनुभव प्राप्त करके समस्त जगत को
कहते हैं कि तुम भी भ्रांति दूर करके ऐसे
शुद्धात्मा का अनुभव प्राप्त करो।

जगत के समस्त जीवों को संबोधन करके कहते हैं कि तुम भी ऐसे शुद्धात्मा का अनुभव करो:—

नहि विदधति बद्धस्पृष्ट भावादयोमी
स्फुटमुपरि तरन्तोऽप्येत्य यत्र प्रतिष्ठाम्।
अनुभवतु मतेव द्योमानं समन्तात्
जगद पगतमोहीभूय सम्यक् स्वभावम्॥११॥

जगत अर्थात् सर्व जीवराशि, जगत के सभी जीव; जैसे 'कांठियावाड़ जागा' अर्थात् कांठियावाड़ के जीव जागे; उसीप्रकार जगत... अर्थात् जगत के सभी जीव, उनको संबोधन करके एक साथ कहते हैं कि प्रथम कहा ऐसे शुद्ध आत्मा को प्रत्यक्षरूप स्वसंवेदन से अनुभव में लाओ। अनादि काल से परभाव के अनुभव में दु:ख सहन किया, अब स्वानुभव के आनंद का भोग करो। अहा! छोटी छोटी आयु के राजकुमार भी, सभी त्याग कर चैतन्य के आनंद का अनुभव करने के लिये वन में चले गये और चैतन्य के स्वरूप में प्रवेश हो गये। भरत चक्रवर्ती के सेनापति जयकुमार (हस्तिनापुर के राजा) वैराग्य प्राप्त करके जब दीक्षित हुए और भगवान के गणधर हो गये, तब यह वैराग्य समाचार सुनकर के, वन क्रीड़ा के लिये गये हुए भरतचक्री के १०० राजकुमार वहाँ से सीधे भगवान के समवसरण में गये... वहाँ जाकर मुनि बन गये। इस बाहर के राज्य वैभव से उत्तम दूसरी कोई वस्तु भीतर में देखने को आई, उस वस्तु के आनंद को साधने के लिये राजपाट त्याग कर रवाना हो गये। यहाँ तो कहते हैं कि समस्त जगत के जीव ऐसे आत्मा का अनुभव करो।—स्वयं को यह अनुभव अत्यंत रुचिकर लगा, जिससे समस्त जगत को उसी का निमंत्रण दे रहे हैं।

किसप्रकार अनुभव में आया? शरीरादि समस्त परद्रव्यों के मोह से रहित होकर शुद्धात्मा अनुभव में आया। ऐसे अनुभव के बिना चारगति के घोर दु:ख में अनंत काल व्यतीत हो गया, परंतु अब तो ऐसा अवसर पाकर शुद्धात्मा को अनुभव में लाकर उसके आनंद का स्वाद लो। स्वयं स्वाद लेकर दूसरों को ऐसा स्वाद लेने के लिये कहते हैं। स्वयं ने पहिचाना हो तो दूसरे को बतलावे न! 'जगत अनुभव करो' इसका अर्थ यह कि हमने तो अनुभव किया है, और जगत में भी जो कोई जीव सुख प्राप्त करना चाहते हों तो वह भी इस वस्तु का अनुभव करो।

शरीरादि परवस्तु को अपनी मानकर जहाँ तक मिथ्याभाव चालू रखता है, वहाँ तक इससे भिन्न शुद्ध जीव वस्तु का अनुभव होता नहीं। इसलिये कहा है कि मिथ्यात्वरूप मोह को छोड़कर, शुद्धनय द्वारा आत्मा को अनुभव में लाओ।

अरे जीव! तू भूला! जो तेरा स्वरूप है, उसे तैंने नहीं पहिचाना और जो तेरा स्वरूप नहीं, उसको तू अपना मान बैठा। जो वस्तु तेरे काम की नहीं, उसमें तू मोहित हो गया; और जो वस्तु वास्तव में तेरे काम की है, ऐसी स्ववस्तु की ओर तैंने देखा तक नहीं।—इससे तू अनादि काल से दु:खी हो रहा है। परन्तु अब तो शरीरादि को पर जानकर, अंतर की स्ववस्तु को देख, उसको अनुभव में ला; इस अनुभव में ही परम सुख है।

अहो, अपना जो स्वभाव अपने में है, उसको अनुभव करने की सीधी-सादी-स्पष्ट बात है। परद्रव्य तो दूर हटे हुए ही हैं, इन परद्रव्यों के साथ तैंने एकत्वबुद्धि धारण की है, स्वतत्त्व में एकत्व द्वारा पर में एकत्वबुद्धि को तू दूर कर दे तो स्वानुभव प्राप्त करने की योग्यता तेरे में आ जाती है। पर में एकत्व दूर करके ज्ञान ने जहाँ स्व में एकत्व किया, वहाँ स्वानुभव हुआ।

- स्वानुभव के लिये छोड़ना क्या? कि परद्रव्य मेरा ऐसी एकताबुद्धि को छोड़ देना।
- स्वानुभव में अंगीकार करने का क्या?
- अपनी चैतन्य वस्तु जैसी है वैसी ही ग्रहण करना, अर्थात् श्रद्धा-ज्ञान में लाना।

भाई! तुझे स्वानुभव के लिये छोड़ने का है, वह कहीं बाहर नहीं है, तेरी पर्याय में ही है। तेरी पर्याय में पर के साथ की एकत्वबुद्धिरूप जो मिथ्यात्व है, वह तेरे छोड़ने का है, इसको छोड़ने से आत्मा स्वानुभव के योग्य बनता है। अथवा स्वानुभव हुआ, वहाँ यह मिथ्यात्वबुद्धि दूर हो जाती है। इसप्रकार अस्ति-नास्ति है। शुद्ध स्वभाव के अनुभव में मिथ्याबुद्धि का अभाव

है, ऐसे अनुभव में सभी प्रकार से शुद्धात्मा ही प्रकाशमान है। ऐसा आत्मा जहाँ अनुभवगोचर हुआ, वहाँ किसी प्रकार की भ्रांति नहीं रहती। देह में-राग में-विकल्प में कहीं भी एकत्वबुद्धि रहती नहीं, सभी तरफ से शुद्ध आत्मा ही प्रकाशमान होता है।

शुद्धात्मा ऐसा है कि उसका अनुभव करने से किसी प्रकार की भ्रांति नहीं रहती; बद्ध-स्पृष्ट आदि भावों से पृथक् स्वभाव जहाँ अनुभव में स्पष्ट आ गया; वहाँ स्वभाव में बंधन और अशुद्धता होगी—ऐसी किसी प्रकार की शंका नहीं रहती।

प्रश्न—शुद्धात्मा के अनुभव में विकार नहीं होते, यह तो सही है, परंतु फिर भी यह राग-द्वेष-मोह अथवा सुख-दु:खरूप परिणाम कौन करता है? कौन भोगता है? आत्मा तो शुद्ध स्वरूप है, फिर यह भाव आये कहाँ से?

उत्तर—भाई! स्वानुभव में आत्मा शुद्ध है, परंतु जिस समय स्वानुभव नहीं होता और विकार करता है, उस समय जीव ही उसका कर्ता और भोक्ता है। यह कोई जड़ नहीं; चैतन्य का विकार है; और स्वानुभव से जीव उसका कर्ता नहीं है; परंतु जो जीव शुद्ध परिणतिरूप परिणमन नहीं करता, और अशुद्धतारूप परिणमन करता है, उसकी पर्याय में विकार है ओर उसका कर्ता वह जीव ही है; दूसरा कोई उसका कर्ता नहीं, अथवा कर्म ने कराया नहीं। अज्ञान भाव से जीव ही उसकावे करता है और जीव ही उसको भोगता है। ज्ञानी जानता है कि-यह रागादि भाव हैं, वह जीव की विभाव परिणति है, उपाधिरूप भाव है। शुद्ध स्वरूप में उसका कर्तृत्व नहीं है-परंतु शुद्धस्वरूप का अनुभव करे, उस समय उसका कर्तृत्व दूर होता है। इसप्रकार शुद्ध स्वरूप के विचार के समय वह विकार जीव का स्वरूप नहीं है, ऐसा कहा; परंतु निज स्वरूप का विचार तो करता नहीं; निज स्वरूप क्या है, उसको जानता नहीं-अनुभवता नहीं, और कहता है कि विकार आत्मा में है ही नहीं;—तो यह उसकी भ्रांति है। भाई, शुद्ध स्वरूप की दृष्टि और अनुभव प्रगट किये बिना पर्याय में से अशुद्ध भावों का कर्तृत्व दूर नहीं हो सकता। रागादि अशुद्ध भाव जीव के साथ बँधे हुए हैं, जीव की पर्याय में हैं, परंतु शुद्ध स्वरूप में यह कोई अशुद्धभाव न तो प्रतिष्ठा और प्रवेश प्राप्त करते और न शोभ प्राप्त करते, शुद्ध स्वरूप में यह प्रवेश करते ही नहीं। आत्मा के साथ मानो यह अशुद्धता पिंडरूप बन गई हो - ऐसा पर्यायदृष्टि से देखने में आती है, क्षणिक पर्याय में यह विद्यमान है, परंतु शुद्ध स्वरूप के अनुभव से बाहर है, शुद्ध स्वरूप यह विभावरूप नहीं बन गया, इसलिये ऐसे सम्यक् स्वभाव को

अनुभव में लाओ। शोभा तो ऐसे शुद्धस्वरूप के अनुभव से है, विभावों से आत्मा की शोभा नहीं। विभावों को आत्मा के शुद्ध स्वरूप में स्थान नहीं है, आत्मा के स्वरूप में विभाव की प्रतिष्ठा (स्थापना) नहीं है।

शुद्ध स्वरूप भी वर्तमान हैं और अशुद्धता भी वर्तमान में है, परंतु दोनों एक-दूसरे में मिले हुए नहीं हैं; बद्ध-स्पृष्ट आदि विभाव में हैं, वह स्वभावरूप नहीं, यह तो नये संबंध से हुए हैं, इनके दूर होने से आत्मा के स्वरूप में से कुछ भी दूर नहीं होता, कारण कि यह भाव शुद्ध स्वरूप से बाहर हैं।

नर-नारकादि विभाव पर्यायें अन्य अन्य भावरूप हैं, और शुद्ध चैतन्यस्वभाव एकरूप अनन्य भाव हैं। असंख्य प्रदेशी आत्मा के आकार में अनेक प्रकार के संकोच-विस्ताररूप परिणमन होते हैं, वह स्थिर एकरूप नहीं है, अत: अनियत है, असंख्य प्रदेश तो नियत है किंतु नर नारकादि आकार नियत आकार नहीं है परंतु अनेक आकार बदलते हैं; ऐसा अनियतपना लक्ष में लेने से शुद्ध जीवतत्त्व अनुभव में नहीं आता। शुद्ध चेतनास्वरूप है, वह जीवतत्त्व का नियत-एकरूप रहनेवाला भाव है; संख्या से गुण अनेक हैं - दर्शन, ज्ञान, चारित्र आदि गुणों के भेद हैं, यह विशेष भाव हैं, इन गुण भेद के आश्रय द्वारा भी शुद्ध जीववस्तु अनुभव में नहीं आती। इन विशेषणों से रहित अर्थात् गुण भेद के विकल्पों से रहित शुद्ध जीववस्तु है। रागादि उपाधिभाव हैं, यह संयुक्त भाव हैं। यहाँ कर्म से संयुक्तता की बात नहीं ली, परंतु परभाव से संयुक्तता की सूक्ष्म बात ली, ऐसी संयुक्तता शुद्ध जीव वस्तु के अनुभव में आती नहीं। जो बद्ध-स्पृष्ट आदि विभाव परिणाम कहे, यह संसार अवस्थायुक्त जीवों की अवस्था में है, परंतु शुद्ध जीवस्वरूप की स्वानुभूति में उनका अभाव है। स्वानुभूति में परभाव प्रवेश नहीं कर सकते; यह तो ऊपर के ऊपर बाहर ही रहते हैं। ज्ञान गुणरूप शुद्ध जीव तो त्रिकालगोचर हैं, तीनों काल शुद्धरूप रहनेवाला है, उसको परवस्तु के साथ स्पर्श नहीं हुआ, और परभाव के भी यह छुआ नहीं। शुद्ध स्वभाव ने तो विकार को स्पर्श नहीं किया, और यह स्वभाव के अनुभवरूप पर्याय भी इन विकार भावों को स्पर्श करती नहीं - इसलिये हे जीव! तेरे सम्यक्त्व प्राप्त करना हो, शुद्ध वस्तु का अनुभव लेना हो तो इस पर्याय को गौण करके संयोग और विभाव की दृष्टि छोड़कर ऐसे त्रैकालिक अभेद स्वानुभव के सन्मुख हो जा। शुद्ध जीव के स्वरूप के अनुभव में जो पर्याय गई, यह पर्याय समस्त परभावों से भिन्न है। चौथा गुणस्थान से शुद्ध आत्मा की ऐसी अनुभूति होती है। चौथा गुणस्थान में सम्यग्दृष्टि को अनुभूति में सर्व परभाव का अभाव होता

है। श्रद्धा अपेक्षा-स्वामित्व अपेक्षा से सर्व विभाव का त्याग है; एकरूप भूतार्थ स्वभाव का ग्रहण है-आश्रय है।

पर्याय में देखने से परभावों की प्रगट उत्पत्ति होती है, पर्याय में उसका विद्यमानपना है, फिर भी शुद्ध स्वरूप उससे पृथक् का पृथक् ही है, जो अकेले विकार को ही देखते हैं, और शुद्ध स्वभाव महान महिमावंत-चैतन्य सूर्य है, उसको नहीं देखते, वह जीव मिथ्यादृष्टि हैं। भाई, त्रैकालिक को भूलकर केवल एक ही क्षणिक विकार जितनी ही वस्तु को तैंने माना! परन्तु यह विकार कोई नित्य वस्तु नहीं है; मोक्षदशा प्रगट होते इनका सर्वथा नाश हो जाता है-इसलिये इसी समय शुद्ध वस्तु में इसका अभाव है - इसप्रकार तू शुद्धदृष्टि से शुद्ध वस्तु को अनुभव में लायेगा... तो ही सम्यग्दर्शन होगा। सम्यग्दर्शन होते ही पर्याय में से भी परभाव दूर होने लगे। निर्मल स्वभाव की ओर गई हुई पर्याय में परभाव है ही नहीं। इसप्रकार पर्याय में भी शुद्धता का अनुभव हो, तब जीववस्तु के शुद्धस्वरूप को जाना और पर्याय में किंचित्मात्र भी शुद्धता प्रगट नहीं हो, ऐसा बनता नहीं। जो मोक्ष में नहीं, वह जीव के शुद्धस्वरूप में नहीं-इसप्रकार आत्मा के शुद्ध स्वरूप को निर्णय करके, हे जगत के जीवों! तुम भी उसका अनुभव करो।

रे अनर्गलता....

सवैया

दुर्भर पेट भरन के कारन, देखता हो नर क्यों विललाय;
झूठ सांच बोलत याके हित, पाप करत नहिं नेक डराय।
भक्ष्य अभक्ष्य कछू न विचारत, दिन अरु रात मिलै सो खाय।
उत्तम नर भव पाय अकारथ, खोवन वादि जनम सब आय॥

* * *

परमान सबै विधि जानत है, अरु मानत है मत जे छह रे।
किरिया कर कर्मनि जोरत है, नहिं छोरत है भ्रम जे पहरे।
उपदेश करै व्रत नेम धरै, परभावन को उर नाहिं हरे।
निज आतम को अनुभौ न करै, ते परे भवसागर में गहरे॥

मोक्षमार्ग दो नहीं हैं

[रामजी माणिकचन्द्र दोशी एडवोकेट]

आत्मा के आश्रय से प्रथम सम्यग्दर्शन प्रगट होता है और क्रमशः अपने में शुद्धि की वृद्धि करके मुनि पद, क्षपकश्रेणी, वीतरागता और केवलज्ञानपूर्वक मोक्ष प्राप्त करते हैं। अन्य कोई उपाय नहीं, इसलिए दो मोक्षमार्ग नहीं हैं; एक ही है–ऐसा समझना।

(७)

'दान उपदेशन' नाम के दूसरे अधिकार में श्री आचार्यदेव व्रत, दानादि शुभभाव पुण्य के कारण हैं, ऐसा कहते हैं। उनको भी भूमिका के अनुसार हेयबुद्धि से व्रतपालन के भाव आते थे परंतु उसका फल संवर-निर्जरा नहीं मानते थे। वे निम्नप्रकार कहते हैं

ग्रामांतरं व्रजति यः स्वगृहाद् गृहीत्वा,
पाथेय मुन्नततरं स सुखी मनुष्यः।
जन्मान्तरं प्रविशतोऽस्य तथा व्रतेन
दानेन चार्जितशुभं सुख हेतु रेकम॥२६॥

अर्थ—जो मनुष्य अपने गृह से बहुत सा नाश्ता (मार्ग में खाने योग्य पकवान आदि) ग्रहण करके दूसरे किसी गाँव को जाता है। वह जिसप्रकार सुखी रहता है, उसीप्रकार दूसरे जन्म में प्रवेश करने के लिए व्रत और दान से कमाया हुआ एकमात्र पुण्य ही सुख का कारण होता है। ॥पृष्ठ ८५॥

नोट—जीव के दो प्रकार के भाव होते हैं। एक शुद्ध और दूसरा अशुद्ध। अशुद्ध के दो भेद हैं। शुभ और अशुभ। शुभ-अशुभ रागभाव है। प्रथम श्रद्धा में उसका अनुभव हुये बिना जो बालव्रत होते हैं, उसकी यहाँ बात नहीं है। यह तो पंचम और छठवें गुणस्थान में जो व्रतादि के भाव होते हैं, वह पुण्यभाव होने से उसका फल-लौकिक में जिसको अनुकूल पदार्थ कहते हैं, मिलता है। जीव को पंचम, छठे गुणस्थान में व्रतादि न हो, ऐसा नहीं है किंतु वह तो पुण्यभाव है और उसका फल संयोग है।

नोट—श्री प्रवचनसार गाथा ५-६ में सम्यग्दृष्टि के व्यवहार श्रद्धा-ज्ञान आचरण को शुभोपयोग है और उसका फल परद्रव्य का संयोग है, ऐसा श्री कुन्कुन्दाचार्यदेव कहते हैं।

व्रत और दानादिभाव पुण्य होने से संयोग का कारण है, उसको शुद्धतारूप धर्म की अपेक्षा क्रूर निशाचर श्री एकत्व सप्तति गाथा २८ में कहा है—

किं मे करिष्यतः क्रूरौ शुभाशुभ निशाचरौ।
रागद्वेष परित्यागमहामंत्रेण कीलितौ ॥२८॥

अर्थ—जिन पुण्य और पापरूप दोनों दुष्ट राक्षसों को राग के परित्यागरूप महामंत्र के द्वारा कीलित किया जा चुका है। वे अब मेरा (आत्मा का) क्या कर सकेंगे ॥२८॥

संस्कृत टीका में लिखा है कि—

शुभाशुभ निशाचरौ पुण्यपाप राक्षसौद्वौ,
मे किं करिष्यत, किं लक्षणौ पुण्य पाप राक्षसौ।
रागद्वेष परित्याग महा मंत्रेण कीलितौ।

अर्थ—'शुभाशुभ निशाचर (चोर हैं) पुण्य-पाप दोनों राक्षस हैं। वह हमारा क्या करेंगे? पुण्य-पाप राक्षसों का लक्षण राग-द्वेष है, उसका परित्यागरूप महामंत्र से कीलित किया है।'

नोट—(१) श्री प्रवचनसार की गाथा ८१ में मुनि के प्रमाद के उदय में जो शुभाचरण होते हैं, उसका प्रमोद चोर कहा है। चोर और निशाचर दोनों का एक ही अर्थ है।

(५) सब अंतरात्मा में शुभाशुभ दोनों को बंधन के हेतु-स्वभाव अनुभव और आश्रय समान, चोर और राक्षस मानती है, ऐसा न होवे तो दोनों की कीलित करने के महामंत्र का अभ्यास किस कारण से करे?

हम एक अशुभ को कीलित कर शुभभाव में राचते रहेंगे, किंतु ज्ञानी तो दोनों को समानरूप से क्रूर निशाचर और राक्षस मानता है। सम्यग्दृष्टि जीव तो पुण्य को पाप मानता है ऐसा योगसार गाथा ७१-७२ में कहा है। (मूल में यह गाथा देख लीजिये)

(३)

श्री एकत्वसप्तति की गाथा ३२ में कहा है—

निश्चयेन तदेकत्वमद्वैतममृतं परम्।
द्वितीयेन कृतं द्वैतंसंसृति व्यवहारतः ॥३२॥

अर्थ—निश्चय से जो एकत्व है, वह उत्कृष्ट अमृत है किंतु दूसरे (कर्म या शरीरादि)

के निमित्त से जो द्वैत भाव उदित होते हैं, वे व्यवहार की अपेक्षा रखने से संसार का कारण होते हैं ॥३२॥

नोट—१. यहाँ व्यवहार (मोक्षमार्ग) पराश्रय से उत्पन्न होता है, ऐसा स्पष्ट बताया है।

२. वह द्वैतभाव है, इसलिये औदयिकभाव है। मोहजन्य औदयिकभाव से बंध ही होता है।

३. शुभभाव औदयिकभाव है, ऐसा यहाँ स्पष्ट कहा है। तत्त्वतः ज्ञानी का भी शुभभाव संसार का कारण है। आत्मा में एकत्व एक ही संवर-निर्जरारूप मोक्ष पंथ है। किंतु एक निश्चयमोक्षमार्ग और एक व्यवहारमोक्षमार्ग, ऐसे दो मोक्षमार्ग नहीं है।

श्री धर्मामृत उपदेश की गाथा और प्रवचनसार दोनों एक ही आवाज से कहते हैं कि मोक्षमार्ग एक ही है। एक निश्चयमोक्षमार्ग और एक व्यवहारमोक्षमार्ग ऐसे दो मोक्षमार्ग मानना भ्रम है।

(धर्मी जीव को प्रारंभ में अकेला व्यवहार ही होता हैं, ऐसा मानना भ्रम है।)

श्री धर्मोपदेशामृत अधिकार की गाथा १६९ में 'भक्ति' धर्म नहीं है। धर्म का स्वरूप उससे भिन्न है, ऐसा निम्न शब्दों में कहा है—

जन्म प्राप्य नरेषु निर्मल कुले क्लेशान्मतेः पाटवं
भक्तिं जैनमते कथं कथमपि प्रागर्जित श्रेयासः।
संसारार्णव तारकं सुखकरं धर्म न ये कुर्वते
हस्तप्राप्त मनर्घ्यं रत्नमपि ते मुञ्चन्ति दुर्बुद्धयः ॥१६९॥

अर्थ—जो लोग मनुष्य पर्याय के भीतर उत्तम कुल में जन्म लेकर कष्टपूर्वक बुद्धि की चतुरता को प्राप्त हुए हैं तथा जिन्होंने पूर्वोपार्जित पुण्य कर्म के उदय से जिस किसी भी प्रकार से जैनमत में भक्ति भी प्राप्त कर लिया है, फिर यदि वे संसार समुद्र से पार कराकर सुख को उत्पन्न करनेवाले धर्म को नहीं करते हैं तो समझना चाहिये कि वे दुर्बुद्धिजन हाथ में प्राप्त हुये भी अमूल्य रत्न को छोड़ देते हैं ॥१६९॥' (यहाँ भक्ति और मोक्षमार्गरूप धर्म को भिन्न-भिन्न बतलाया है।)

नोट—श्री पंचास्तिकाय की गाथा में भक्ति को पुण्यास्रव कहा है। दया, दान, पूजादि छह आवश्यक, कृपाकरुणादि को पुण्यास्रव और हेय कहा है। देखो पृष्ठ २७३, ३१७, ३२२,

३२३, ३१५, ३२५ से ३२७, ३२८, ३४१, ३४२, ३४४, ३८९, ३९०, ३८३ श्री महावीरजी से प्रकाशित।

श्री उपासक संस्कार अधिकार गाथा ४-५ में कहा है कि निश्चय धर्म मुनि और गृहस्थ दोनों के वर्तमान काल में होता है। देखिये पृष्ठ १२८ में -

सम्यग्दृगबोध चारित्र त्रितयं धर्म उच्यते।
मुक्तेः पंथाः स एवस्यात् प्रमाण परिनिष्ठितः॥

अर्थ—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनों को धर्म कहा जाता है तथा वही मुक्ति का मार्ग है जो प्रमाण से सिद्ध है॥२॥

संपूर्ण देश भेदाभ्यां स च धर्मो द्विधा भवेत्।
आद्ये भेदे च निर्ग्रंथा द्वितीये गृहिणः स्थिताः॥

अर्थ—वह धर्म संपूर्ण धर्म और देश धर्म के भेद से दो प्रकार का है। इनमें से प्रथम भेद में दिगम्बर मुनि और द्वितीय भेद में गृहस्थ स्थित होते हैं॥४॥

संप्रत्यपि प्रवर्तते धर्मस्तेनैव वर्त्मना।
तेन तेऽपि च गण्यन्ते गृहस्थाः धर्महेतवः॥५॥

अर्थ—वर्तमान में भी उस रत्नत्रय स्वरूप धर्म की प्रवृत्ति उसी मार्ग में अर्थात् पूर्ण धर्म और देश धर्म स्वरूप से हो रही है, इसलिये वे गृहस्थ भी धर्म के कारण माने जाते हैं॥५॥

(उपसंहार)

(१) श्रुत निपुणबुद्धिवाले श्री गणधरदेवादि समस्त साधु कहते हैं कि निश्चयमोक्षमार्ग मुक्ति का कारण है और व्यवहारमोक्षमार्ग संसार का कारण है। देखो पद्मनंदी-पंचविंशति अध्याय १ गाथा ८१। निश्चय मोक्षमार्ग अमृत है और व्यवहारमोक्षमार्ग संसार है। अध्याय ४, गाथा ३२

(२) समस्त श्रुत में एक आत्मा ही उपादेय है और अन्य सब हेय है। आत्मा ही धर्म है, अन्य कोई धर्म नहीं है। प० पं० अ० १, गाथा १२६

(३) व्रत, दान, पूजा, भक्ति, दया, करुणारूपी शुभभाव व्यवहार आर्जव धर्म इत्यादि सब पुण्यभाव होने से बंध के कारण हैं। अ० २ गाथा २६, पृष्ठ ८५, पृष्ठ ३७, अ० १ गाथा ८९

(४) पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावक को आंशिक निश्चय धर्म होता है। अ०६, गाथा ३-४-५

(५) आचार्यकल्प पंडित श्री टोडरमलजी ने श्री मोक्षमार्गप्रकाशक के पृष्ठ ३६६ में जो निम्न बातें लिखी हैं, वे शब्द-शब्द परम सत्य है और श्रुत निपुण बुद्धिवाले श्री गणधरदेवादि समस्त साधुओं ने यही कहा है—

''साँचानिरूपण सो निश्चय, उपचार निरूपण सो व्यवहार, तातैं निरूपण अपेक्षा दोय प्रकार मोक्षमार्ग जानना। एक निश्चय मोक्षमार्ग है, एक व्यवहार मोक्षमार्ग है, ऐसे दोय मोक्षमार्ग मानना 'मिथ्या' है। बहुरि निश्चय व्यवहार दोऊनिकूँ 'उपादेय माने हैं', 'सो भी भ्रम' हैं। जातैं निश्चय व्यवहार का स्वरूप तो परस्पर विरोध लिये हैं। जातैं समयसार विषैं ऐसा कहा है—

व्यवहारोऽभूयत्थो भूयत्थो देसिदो दु सुद्धणओ ॥११॥

(क्रमशः)

आध्यात्मिक-पद

(रचयिता - कवि श्री मनराज, राग-मल्हार)

रे जिय जनम लाहो लेह ॥
चरण ते जिन भवन पहुँचे, दान देकर जेह ॥१॥
उर सोई जामे दया है, अरु रुधिर को गेह।
जीभ सो जिन नाम गावै, सांस सौ करैं नेह ॥ रे जिय० ॥२॥
आंखते जिन राज देखैं, और आँखैं खेह।
श्रवन तें जिन वचन सुनि सुभ तप तपै सो देह ॥ रे जिय० ॥३॥
सफल तन इह भांति ह्वै है, और भांति न केह ॥
ह्वै सुखी 'मनराम' ध्यावौ, कहै सद्गुरु एह ॥ रे जिय० ॥४॥

राग बन्ध की डोरी है

[जहाँ शुभाशुभ परिणामों का स्वामित्व, कर्तृत्व, आदर-रुचि है वहाँ अनंतानुबंधी कषाय की प्रवृत्ति और अनंत संसार के बंधन हैं। जिनको श्रद्धा में अबंधत्व है, पराश्रय की श्रद्धा के त्याग पूर्वक स्वसन्मुखता द्वारा विवेक है उस जीव को चारित्र की कमी वश अल्प राग रहता है वह रागांश भी बंध की ही डोरी है।]

शुभ हो अथवा अशुभ, कामना आकुलता की पोरी है,
सद्गुरु बार-बार समझाते, राग बंध की डोरी है।

(१)

हाथी ईख-घास दोनों को एकमेक कर खाता है।
स्वाद कहाँ मीठे फीके का, सबको साथ चबाता है॥
राग और चैतन्य एक-सा जिसको अनुभव आता है।
उसको कैसे मिले आतमा, वह संसार कमाता है॥
भेद ज्ञान के बिना त्याग बेकार, तपस्या कोरी है।
सद्गुरु बार-बार समझाते, राग बंध की डोरी है॥

(२)

जैसे दर्पण में प्रतिबिम्बित होते हाथ-पाँव सारे।
किंतु एक अंश न उनका घुसता दर्पण में प्यारे॥
वैसे ही जो 'ज्ञेय' ज्ञान में झलक रहे मीठे खारे।
अपनी-अपनी जगह पड़े हैं, सबके सब न्यारे-न्यारे॥
है स्वतंत्र परिणमन, कौन का बिस्तर किसकी बोरी है।
सद्गुरु बार-बार समझाते, राग बंध की डोरी है॥

(३)

जल में नाव रहे क्या खतरा, नहीं डूबने पावेगा।
किंतु नाव में जल यदि आया, सबको सखे! डूबावेगा॥
जो जग से निलिप्त, उसे क्या शंका कौन नचावेगा।
जिसके मन में बसा हुआ संसार, वही अकुलावेगा॥
पर का अवलंबन दुखदाई, क्या हिंसा क्या चोरी है।
सद्गुरु बार-बार समझाते, राग बंध की डोरी है।

— ले० प्रसन्नकुमार सेठी

साधक को निश्चय-सम्यक्त्व सदैव होता है

जीव पदार्थ अनादि से मिथ्यादृष्टि है; स्व-पर के यथार्थ स्वरूप की विपरीत श्रद्धा का नाम मिथ्यात्व है। और जिस समय किसी जीव को दर्शनमोह के उपशम, क्षयोपशम से स्व-पर का यथार्थ श्रद्धानरूप तत्त्वार्थश्रद्धान हो, तब वह जीव सम्यक्त्वी कहा जाता है। इसलिये स्व-पर के यथार्थ श्रद्धान में शुद्धात्म-श्रद्धानरूप निश्चय सम्यक्त्व गर्भित है।

देखो, प्रथम तो सम्यक्त्व का स्वरूप बतलाते हैं; बाद में सम्यग्ज्ञान और इस ही के स्वानुभव इत्यादि की चर्चा करेंगे। यह तो लोकोत्तर पत्र है, इसलिये इसमें कोई व्यापार-धंधा और घर-कुटुम्ब की बात नहीं होती, इसमें तो स्वानुभव आदि लोकोत्तर चर्चा भरी हुई है। इसके भाव समझे, उसको इसकी कीमत समझ में आती है, जिसप्रकार कोई साहूकार व्यापारी दूसरे साहूकार ऊपर पोस्टकार्ड पर लिखे कि 'बाजार भाव से कुछ ऊँचे भाव से भी एक लाख गांठ रुई की खरीदो' देखो, इस डेढ़ लाइन के लिखान में तो कितनी बात आ जाती है। दोनों व्यापारियों को एक-दूसरे का विश्वास, हिम्मत, साहूकारी, व्यापार संबंधी ज्ञान-यह सब डेढ़ लाइन के लिखान में आ गया। परंतु उसके जानकार को ही इसकी मालूम पड़ती है, अज्ञानी (अनपढ़) को क्या मालूम पड़े? उसीप्रकार सर्वज्ञ भगवान ने शास्त्ररूपी पत्र में संतों के ऊपर धर्म का संदेश लिखा है, उसमें स्वानुभव और स्व-पर की भिन्नता इत्यादि अनेक गंभीर रहस्य भरे हुए हैं। इस पर से उनकी सर्वज्ञता, वीतरागता तथा उसको झेलने की ताकत—यह सभी ध्यान में आती है। भगवान के शास्त्र में भरे हुए गूढ़ भावों को ज्ञानी ही जानता है। अज्ञानी को उसके रहस्य का ज्ञान नहीं हो सकता, और रहस्य जाने बिना उसको वास्तविक महिमा आती नहीं।

यहाँ साधर्मी के ऊपर पत्र लिखने से पहिले स्वानुभव की चर्चा में पहिले से ही सम्यग्दर्शन की बात की है। सम्यग्दर्शन बिना स्वानुभव हो नहीं सकता। स्वानुभवसहित ही

सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति होती है। स्वानुभव, वह एक शुद्धदशा है, ऐसी दशा जीव को अनादि से होती नहीं परंतु नवीन प्रगट होती है। इस स्वानुभव की अत्यंत महिमा का वर्णन शास्त्रों ने किया है; स्वानुभव, यह मोक्षमार्ग है। स्वानुभव में जो आनंद है, ऐसा आनंद जगत में दूसरे स्थान पर कहीं भी नहीं। ऐसी स्वानुभव दशा का वर्णन यहाँ करेंगे।

इस जगत में अनंत जीव हैं; हर एक जीव चैतन्यमय है। परिपूर्ण ज्ञान और सुख प्रत्येक जीव स्वभाव में भरे हुए हैं। परंतु ऐसे अपने स्वरूप को स्वयं देखता नहीं-अनुभव भी नहीं करता; इसकारण वह अनादिकाल से मिथ्यादृष्टि है। अनादि से अपने सच्चे स्वरूप को भूलकर परभावों में ही एकरूप हो रहा है, स्व-पर की जैसी भिन्नता है, वैसी यथार्थ जानता नहीं और विपरीत मानता है। इसलिये 'पर से मेरे में कुछ होता है—पर का मैं कुछ कर सकता हूँ, निमित्त, राग, पराश्रय चाहिये'—ऐसी गहरी-प्रगाढ़ स्व-पर की एकत्वबुद्धि उसको रहा करती है। इसप्रकार की विपरीत श्रद्धा का नाम मिथ्यात्व है। देखो, यह विपरीत मान्यता जीव स्वयं ही अपने स्वरूप को भूलकर कर रहा है, एक-एक समय होते-होते अनादि काल से स्वयं ही अपने अज्ञान के कारण मिथ्यात्वभावरूप परिणमन कर रहा है, किसी अन्य ने मिथ्यात्व नहीं कराया। जो ऐसा मानता है कि—मिथ्यात्व कर्म ने जीव में मिथ्यात्व कराया, उसको स्व-पर में एकत्वबुद्धि है, मिथ्यात्व है।

पूजन की जयमाला में भी आता है कि 'कर्म बिचारे कौन भूल मेरी अधिकाई' प्रभु! मैं मेरी भूल की अधिकता के कारण ही दुःख भोग रहा हूँ। निगोद का जीव अनादि से निगोद में रहा है, वह भी स्वयं के भावों की कालिमा की अत्यंत प्रचुरता के कारण ही निगोद में रहा है। 'भाव कलंक सुपउरा निगोदवासं ण मुंचई-गोमट्टसार जीवकांड।' भाई, तेरी भूल तूं जड़ के सिर पर डाले तो इस भूल से तेरा छुटकारा किस दिन होगा?—कभी भी होनेवाला नहीं। जीव और जड़ दोनों द्रव्य ही जब कि अत्यंत पृथक्; दोनों की जाति पृथक्, दोनों के परिणाम पृथक्, वहाँ एक-दूसरे में क्या करे? परंतु ऐसी वस्तुस्थिति को नहीं जाननेवाला स्व-पर की एकत्वबुद्धि का अथवा पर में कर्ता-कर्म की एकत्वबुद्धि का भ्रम अनादि से चला आ रहा है, यही मिथ्यात्व है और यही संसार दुःख का मूल है। यहाँ पर तो अब यह भ्रमरूप मिथ्यात्व किसप्रकार दूर हो, इसकी बात है।

कोई मुमुक्षु जीव जब अंतर के पुरुषार्थ से स्व-पर का यथार्थ श्रद्धानरूप तत्त्वार्थ-

श्रद्धान करे, तब वह जीव सम्यक्त्वी होता है। स्व क्या? पर क्या? स्व में आत्मा का शुद्धस्वभाव क्या और रागादि परभाव क्या, इन सभी को भेदज्ञान से बराबर पहिचानकर प्रतीत करने से सम्यक्त्व होता है। स्व-पर के ऐसे यथार्थ श्रद्धान में शुद्धात्म-श्रद्धानरूप निश्चय सम्यक्त्व गर्भित है। देखो, यह मूल बात! स्व-पर के श्रद्धान में और देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धारूप व्यवहार सम्यक्त्व के समय निश्चय सम्यक्त्व तो साथ का साथ ही है। कोई कहे कि निश्चय सम्यक्त्व चौथे गुणस्थान में नहीं होता, तो कहते हैं कि भाई, जो निश्चय सम्यक्त्व साथ का साथ नहीं हो तो तेरा अकेला माना हुआ व्यवहार को शास्त्रकार सम्यक्त्व कहते ही नहीं। जिसको शुद्धात्म-श्रद्धानरूप निश्चय समकित नहीं, वह जीव सम्यक्त्वी ही नहीं, वह तो मिथ्यात्वी ही है। शुद्धात्मा का श्रद्धानरूप निश्चय सम्यक्त्व जब हो, तब ही जीव को चौथा गुणस्थान प्रगटे और तब ही उसको समकिती कहने में आता है। इसलिये कहते हैं कि सम्यग्दृष्टि जीव को स्व-पर के यथार्थ श्रद्धान में शुद्धात्म श्रद्धानरूप निश्चय सम्यक्त्व गर्भित है। 'गर्भित है' इसका अर्थ इसके साथ ही रहता है। और ऐसे जीव को निमित्त में दर्शन -मोहनीय कर्म का उपशम, क्षयोपशम आप ही आप होता है। इसलिये कथन में निमित्त से ऐसा कहने में आता है कि दर्शनमोह के उपशमादिक से सम्यक्त्व हुआ। परंतु वास्तव में तो जीव ने स्व-पर के यथार्थ श्रद्धान का प्रयत्न किया, तब सम्यक्त्व हुआ। जीव यथार्थ श्रद्धान का उद्यम (पुरुषार्थ) न करे और कर्म में उपशमादिक हो जाये, ऐसा बनता नहीं। इसके अलावा यहाँ तो यह बतलाना है कि स्व-पर की श्रद्धा में शुद्धात्मा की श्रद्धा आती जाती है। शुद्धात्मा की श्रद्धा वह निश्चय सम्यक्त्व है, इसको तब ही स्व-पर की देव-गुरु-धर्म की श्रद्धा को सच्ची श्रद्धा कही जाती है। निश्चय बिना का अकेला शुभ रागरूप व्यवहार से जीव समकिती कहलाता नहीं। निश्चय समकित हो, उसे ही समकिती कहा जाता है।

वक्ता और श्रोता की चौभंगी

संसार में वक्ता और श्रोता का योग किस-किसप्रकार का होता है, और इसमें दोनों की कैसी स्वतंत्रता है! यह इस चौभंगी द्वारा ध्यान में आयेगा। चार भंग जानकर उसमें सबसे उत्तम जो चौथा प्रकार है, उसमें शुद्ध उपादान द्वारा स्वयं को मिला देना।

(१)

किसी समय वक्ता और श्रोता दोनों अज्ञानी होते हैं, वहाँ पर निमित्त-उपादान दोनों ही अशुद्ध होते हैं। जहाँ अज्ञानी का विपरीत उपदेश चलता हो, फिर भी जिसको वह रुचिकर लगे, ऐसा श्रोता भी अशुद्ध उपादानवाला है; शुद्ध उपादानवाले जीव को ऐसा विपरीत उपदेश रुचिकर नहीं होता, और श्रोता बनकर ऐसे उपदेश को स्वीकार नहीं करता। अज्ञानी वक्ता ने गलत उपदेश दिया, इसलिये श्रोता को गलत ज्ञान हुआ-ऐसा नहीं। श्रोता का उपादान इस ही प्रकार का अशुद्ध था। जिससे उसको ऐसा उपदेश जँचा, निमित्त और उपादान दोनों स्वतंत्र, असहायी हैं, कोई किसी के आधीन नहीं है - यह सिद्धांत पहले से कहते आये हैं, इसको सब जगह लगाना। किसी समय अज्ञानी शास्त्रानुसार भी उपदेश देता हो और अज्ञानी सुनता हो, परंतु स्वानुभव का सत्य रहस्य उसमें आता नहीं, इससे मोक्षमार्ग का प्रसंग वहाँ पर बनता नहीं; कारण कि उपादान और निमित्त दोनों अशुद्ध हैं, दोनों अज्ञानी हैं।

(२) एक अज्ञानी, दूसरा ज्ञानी

अब किसी समय ऐसा भी बनता है कि वक्ता अज्ञानी होता है और श्रोता ज्ञानी होता है। वहाँ पर निमित्त अशुद्ध है और उपादान शुद्ध है। देखो, निमित्त अशुद्ध है परंतु वह उपादान को अशुद्ध करता ही नहीं। दोनों स्वतंत्रता से अपने-अपने भावों में परिणमन कर रहे हैं। ज्ञानी कहीं इधर-उधर अज्ञानी का उपदेश सुनने नहीं जाता; परंतु कोई मुनि इत्यादि हो; बाहर का व्यवहार ठीक हो और शास्त्र के अनुसार प्ररूपण करते हों, अंदर कहीं सूक्ष्म मिथ्यात्व का प्रकार उनको रह गया हो, कदाचित् दूसरों को इसका ख्याल भी न हो; और ज्ञानी उन मुनि की सभा में बैठकर सुन रहा हो, वंदनादि व्यवहार भी करता हो; वहाँ पर वक्ता अज्ञानी है और श्रोता ज्ञानी है। शास्त्र अनुसार शुद्धात्मा का अनुभव के बिना कथन करते हों परंतु स्वयं को उसका स्वानुभव न हो,

और श्रोता में कोई ज्ञानी हो, उसको ऐसा स्वानुभव हो गया हो। शास्त्र अनुसार प्ररूपणा हो तो ज्ञानी सुनता है, परंतु शास्त्र विरुद्ध प्ररूपणा हो तो ज्ञानी श्रोता बनकर सुनता नहीं, उसका इनकार करे। राग को जो मोक्षमार्ग मनावे, पराश्रय से धर्म मनावे, आत्मा का पर में कर्तृत्व मनावे, देह की जड़ क्रिया से धर्म मनावे, इसप्रकार सीधी-सादी विपरीत प्ररूपणा कोई अज्ञानी करते हों और उसको सुनने का कभी प्रसंग आ जाय तो ज्ञानी श्रोता उक्त बात को स्वीकार करता नहीं। इसमें उपादान शुद्ध है और निमित्त अशुद्ध है।

यहाँ पर एक बात ध्यान में रखने जैसी है कि श्रोता ज्ञानी है, उस श्रोता को धर्म प्राप्त करते समय कोई दूसरे ज्ञानी के पास से देशनालब्धि हो गई है, इसप्रकार जिसके पास से देशनालब्धि प्राप्त हुई, वही धर्म का निमित्त है। अज्ञानी के उपदेश से कोई जीव देशनालब्धि प्राप्त कर ले, ऐसा कभी होता नहीं। धर्म प्राप्त करनेवाले ने एक बार तो ज्ञानी के पास से देशना सुनी ही है – ऐसा अनादि परंपरा है। हाँ, इसप्रकार बनता है कि अज्ञानी का उपदेश सुनते समय पहले प्राप्त हुई देशनालब्धि के संस्कार ताजे हो जाते हैं, उसके बल से जीव धर्म को प्राप्त करता है; वहाँ उपादान की शुद्धता के बल द्वारा ही धर्म को प्राप्त करता है। इसप्रकार उपादान शुद्ध और निमित्त अशुद्ध, इस तरह भी किसी समय होता है।

इससे कोई इसप्रकार कहता हो कि निमित्त चाहे कैसा भी हो हमारे को क्या बाधा? चाहे किसी के पास से सुनना है न! इसलिये चाहे जैसा अज्ञानी-कुगुरु-अन्यमति का भी उपदेश सुनने में बाधा नहीं, तो इसकी बात सत्य नहीं है; वह महान भ्रमणा में है। भाई! तुझे ऐसे गलत तत्त्व का श्रवण करने का भाव कैसे आया? कुसंग का भाव तुझे किसप्रकार अच्छा लगता है – इसलिये तेरा उपादान भी अशुद्ध है। जैसा तेरे वक्ता... वैसा तूं – दोनों समान; इसलिये तेरी श्रेणी इस दूसरे नंबर में नहीं आती; परंतु तेरी श्रेणी तो प्रथम एक नंबर में कहा, उसमें आती है।

(३) एक ज्ञानी, दूसरा अज्ञानी

वक्ता ज्ञानी हो, और श्रोता अज्ञानी हो, वहाँ निमित्त शुद्ध, और उपादान अशुद्ध है; ऐसा तीसरा प्रकार तो सामान्यतः देखने में आता है। तीर्थंकर भगवान की सभा में तो बहुत से जीव श्रोता होते हैं, परंतु सभी कोई सम्यग्दर्शन प्राप्त करते हैं, ऐसा नहीं है। इससे भैया भगवतीदासजी उपादान-निमित्त के संवाद में कहते हैं कि—

यह निमित्त इस जीव को, मिल्यो अनंती बार।
उपादान पलट्यो नहीं, तो भटक्यो संसार॥९॥
केवलि अरु मुनिराज के; पास रहे बहु लोय।
पै जाको सुलटो धनी, क्षायिक ताकौं होय॥११॥

देखो तो सही, सर्वज्ञ जैसे वक्ता का निमित्त मिला, और उनकी वाणी समवसरण में बैठे-बैठे सुनने को मिली, फिर भी जिनका उपादान अशुद्ध था, वह जीव अज्ञानी ही रहे।—निमित्त क्या करे? अपनी उपादान की तैयारी बिना भगवान भी समझा दे, ऐसा भी नहीं। शुद्धात्मा की एक ही प्रकार की बात बहुत से जीव ज्ञानी के पास से एक साथ सुनते हैं, उनमें कोई तो समझकर अनुभव कर लेता है, कोई जीव वैसा अनुभव नहीं करता। निमित्त को देखते हुए वक्ता एक ही है परंतु उपादान के अनुसार उपदेश का परिणमन होता है। इसप्रकार की स्वतंत्रता है। यहाँ पर उत्कृष्ट निमित्त में ज्ञानी वक्ता तीर्थंकर का उदाहरण लिया। इसप्रकार चौथे गुणस्थान से लेकर सभी ज्ञानी वक्ता को समझ लेना चाहिये।

(४) दोनों ज्ञानी

किसी समय वक्ता ज्ञानी हो और श्रोता भी ज्ञानी होता है, वहाँ पर उपादान और निमित्त दोनों शुद्ध हैं; ऐसा भी देखने में आता है। तीर्थंकर भगवान की सभा में गणधर जैसे श्रोता विराजमान हों; जगत में सबसे उत्तम वक्ता तीर्थंकरदेव और सबसे उत्तम श्रोता गणधरदेव, अहा! ऐसे वीतरागी वक्ता और ऐसे श्रोता की क्या बात!! जहाँ सर्वज्ञ जैसे वक्ता... और चार ज्ञानधारी श्रोता.... इस सभा की दिव्य शोभा की क्या बात!! और भगवान की वाणी एक समय में पूरा रहस्य लेकर आती है, गणधरदेव एकाग्रता से सुनते-सुनते स्वरूप में मग्न हो जाते हैं। भगवान की सभा में दूसरे भी लाखों-करोड़ों ज्ञानी होते हैं, तिर्यंच भी वहाँ धर्म को प्राप्त करते हैं। सामने उपादान जग गया, फिर इसकी क्या बात! उत्कृष्ट उपादान जागे, वहाँ पर निमित्त भी उत्कृष्ट ही होता है - फिर भी दोनों स्वतंत्र। वक्तापना तेरहवें गुणस्थान तक होता है, परंतु श्रोतापना छट्ठे गुणस्थान तक ही है। बाद में ऊपर के गुणस्थानों में तो उपयोग निर्विकल्प होकर स्वरूप में ठहर जाता है, वहाँ वाणी तरफ लक्ष्य जाता नहीं। तीर्थंकरदेव सर्वज्ञ परमात्मा से लेकर गणधरदेव, मुनिवर तथा चौथे गुणस्थानवर्ती सम्यग्दृष्टि जीव—यह सब वक्ता ज्ञानी हैं, वह शुद्ध निमित्त है, और श्रोता में भी ज्ञानी होते हैं, उनको शुद्ध उपादान है। ज्ञानी वक्ता हो और

श्रोता ज्ञानी हो, ऐसा प्रसंग तो अल्प ही देखने में आता है।

इसप्रकार वक्ता और श्रोतारूप निमित्त-उपादान का कुल चार प्रकार से कथन किया, हर एक में निमित्त-उपादान दोनों की स्वतंत्रता समझना। और इन दृष्टांतों के अनुसार भिन्न-भिन्न द्रव्यों में सभी जगह उपादान-निमित्त दोनों की स्वतंत्रता समझ लेना... और पराश्रयबुद्धि को छोड़कर स्वभाव द्वारा मोक्षमार्ग का साधन करना.... इसका यही तात्पर्य है।

(श्री बनारसीदासजी की उपादान-निमित्त वचनिका ऊपर प्रवचन में से)

अध्यात्म-पद

[रचयिता—कवि श्री जगजीवनराम, राग-मल्हार]

जगत सब दीसत धन की छाया।
पुत्र कलत्र मित्र तन संपति, उदय पुद्गल जुरि आया।
भवन परनति वरषागम सोहै, आश्रव पवन बहाया॥ जगत० ॥१॥
इन्द्रिय विषय लहरि तडता है, देखत जाय विलाया।
राग रोष बगु पंकति दीरघ, मोह गहल घरराया॥ जगत० ॥२॥
सुमति विरहनी दुखदायक है, कुमति संजोग ति भाया।
निज संपति रतनत्रय गहि कर, मुनिजन नर मन भाया॥
सहज अनंत चतुष्टय मंदिर, 'जगजीवन' सुख पाया॥ जगत० ॥३॥

सर्वज्ञ के स्वरूप का अनुसरण करनेवाली जिनवाणी को नमस्कार

[कलश टीका पर प्रवचन से]

प्रथम कलश में शुद्धात्मा को नमस्कार किया; अब दूसरे कलश में शुद्धात्मा को बतानेवाली दिव्यध्वनि-जिनवाणी को नमस्कार करते हैं; वाणी जड़ होते हुए भी उसको किसलिये नमस्कार किया गया? इसका समाधान करते हुए कहते हैं कि यह वाणी सर्वज्ञ स्वरूप का अनुसरण करनेवाली है; इसलिये यह भी वंदनीय है।

अनंत धर्मणस्तत्वं पश्यन्ती प्रत्यात्मनः।
अनेकांतमयी मूर्तिनित्यमेव प्रकाशताम्॥२॥

जिनवाणी के निमित्त से प्रगट हुई शुद्धात्मा की अनुभूति त्रिकाल जयवंत रहो, ऐसी भावना है, वहाँ निमित्तरूप वाणी भी जयवंत रहो—इसप्रकार कहकर जिनवाणी का बहुमान किया गया है।

जिनवाणी कैसी है? अनेकांतमय है; जिसप्रकार पदार्थ अनेक धर्मों से युक्त हैं, ऐसे अनेक धर्मों को कहनेवाली अनेकांतमय जिनवाणी है। एक वस्तु के अनेक धर्मों को कहनेवाली जिनवाणी किसीप्रकार भी संशयरूप नहीं है परंतु वस्तु स्वरूप का निर्णय करवाकर संशय का नाश करनेवाली है।

शंका—अनेकांत तो संशयरूप है, वस्तु को नित्य भी कहता है और अनित्य भी कहता है—निश्चितरूप में कुछ कहता नहीं, इसलिये अनेकांत तो संशयरूप है, इसलिये मिथ्या है।

समाधान—नहीं, अनेकांत तो संशय को दूर करनेवाला है, और वस्तुस्वरूप का साधनशील है, अर्थात् अनेकांत तो वस्तुस्वरूप को जिसप्रकार है, उसीप्रकार सुनिश्चित सिद्ध करता है, अनेकांत का स्वभाव तो वस्तुस्वरूप को साधने का है, और वस्तु स्वरूप का निर्णय करवाकर संशय का नाश करता है।

जो कोई सत्तास्वरूप वस्तु है, वह द्रव्य-गुणस्वरूप है; अभेदरूप से सत्ता को देखो तो वह द्रव्य है; और जो भेदरूप से देखो तो वह सत्ता अनंत गुणरूप है। अभेद से देखो तो एक

द्रव्य; उस ही को भेद से देखो तो अनंत गुण—इसप्रकार सत्ता अनेकांत स्वरूप है। अनादि-अनंत ऐसा ही वस्तु का स्वरूप है, उसको अनेकांत प्रसिद्ध करता है। वस्तु स्वयंमेव अनेकांत स्वरूप है, सहारा किसका? उसको किसी का सहारा नहीं है। ऐसे अनेकांत स्वरूप को प्रकाशमान करनेवाली जिनवाणी को नमस्कार किया गया है। 'वह सदा प्रकाशमान रहो' इसप्रकार कहकर उसका बहुमान किया। इसमें नमस्कार आ जाता है।

जिस वाणी को नमस्कार किया, वह वाणी कैसी है? कि भिन्न आत्मा को बतलानेवाली -अनुभव करवानेवाली; प्रत्येक आत्मा अर्थात् भिन्न आत्मा; भिन्न आत्मा कहो या शुद्धात्मा कहो। शुद्धात्मा अर्थात् सर्वज्ञ-वीतरागस्वभावी आत्मा; ऐसे सर्वज्ञस्वरूप का अनुसरण करनेवाली अर्थात् कि उसके स्वरूप को कहनेवाली जिनवाणी है। ऐसी सर्वज्ञ स्वरूपानुसारिणी जिनवाणी को न माने, उसको अचेतन कहकर उपेक्षा कर दें तो अच्छा नहीं। भाई, यह वाणी भले ही अचेतन हो, परंतु वह सर्वज्ञ स्वरूप का अनुसरण करनेवाली है, जैसा सर्वज्ञ का स्वरूप है, वैसा ही कहती है। ज्ञान में जानने का स्वभाव है, कहने का स्वभाव नहीं है; वाणी में कहने का स्वभाव है, जानने का स्वभाव नहीं, परंतु सर्वज्ञ ने जैसा वस्तुस्वरूप जाना, वैसा ही वस्तुस्वरूप दिव्यध्वनि में आया है—ऐसा ही वाणी का स्वभाव है; जिससे उस दिव्यध्वनिरूप वाणी को 'सर्वज्ञस्वरूप-अनुसारिणी' कहा गया है। अर्थात् कोई पूछे कि 'अचेतनवाणी को नमस्कार किसप्रकार किया?'—तो उसका समाधान इसमें आ जाता है।

ज्ञान के आधार से वाणी नहीं और वाणी के आधार से ज्ञान नहीं; दोनों स्वतंत्र हैं। फिर भी ऐसा सहज मिलाप है कि ज्ञान जहाँ सर्वज्ञरूप परिणमित हुआ, वहाँ वाणी भी उसी का अनुसरण करनेवाली हुई। जैसा शुद्धस्वरूप सर्वज्ञ के ज्ञान में आया, वैसा ही वाणी में आया। ज्ञान में जो आया, उससे विरुद्ध वाणी में नहीं आता, इससे ऐसी सर्वज्ञस्वरूप को अनुसरण करनेवाली जिनवाणी का भी बहुमान करने में आया।

शंका—'नमः समयसाराय' इसप्रकार कहकर मांगलिक के श्लोक में शुद्धात्मा को ही उपादेय कहा, अजीव वस्तु नमस्कार योग्य नहीं और शुद्ध जीव ही नमस्कार योग्य है—ऐसा कहा, यहाँ फिर दिव्यध्वनि को नमस्कार किया? दिव्यध्वनि तो अजीव है, अचेतन है, उसको किस प्रकार नमस्कार किया?

समाधान—भाई, यह वाणी शुद्धात्मा को प्रकाशित करनेवाली है, सर्वज्ञस्वरूप-

अनुसारिणी है, इससे निमित्तरूप से यह भी बहुमान करनेयोग्य है। अहा! दिव्यध्वनि का प्रपात... इसको तो जिसने सुना हो, उसको स्मरण में आती है, 'त्रिकाल दिव्यध्वनि दातार की जय, दिव्यध्वनि की जय'—इसप्रकार कहकर ज्ञानी भी भगवान की वाणी का बहुमान करते हैं। भक्ति में भी गाते हैं—

धन्य दिव्य ध्वनि ॐकार कोरे....
जिसने प्रगट किया आत्मदेव...
जिनवाणी जयवंत तीन लोक मेरे...

इसप्रकार की जिनवाणी आत्मस्वरूप का ज्ञान कराने में निमित्त होने से पूज्य है। इसीप्रकार जिनप्रतिमा इत्यादि को पूज्य कहने में आया है। कारण कि यह सर्वज्ञ परमात्मा का प्रतिबिम्ब है। जिनवाणी को धर्म की माता कहने में आता है। माता जैसी पूज्य है। प्रथम वाणी के वाच्यरूप शुद्धात्मा को नमस्कार किया; यहाँ शुद्धात्मा की वाचक ऐसी, वाणी को भी नमस्कार किया। दूसरी लौकिकवाणी से यह शुद्धात्मस्वरूप को कहनेवाली वाणी में विशेषता है; धर्मी को भी इसके प्रति पूज्यभाव आता ही है।

जिनवाणी, जो भिन्न आत्मा दिखलाती है, वह कैसा है? सर्वज्ञ वीतरागस्वरूप भिन्न आत्मा जो अपने अपार-अपार गुणों सहित है। शुद्ध परमात्मा निर्गुण नहीं; अगर शुद्ध आत्मा में गुण का विनाश हो जाये तो आत्मा का ही नाश हो जाता है, कारण कि गुण और द्रव्य अभेद है, जिससे गुण का नाश होने पर, द्रव्य का नाश हो जायेगा—परंतु इसप्रकार कभी बनता नहीं। सर्वज्ञ वीतरागस्वरूप शुद्धात्मा सदा अनंत धर्मों सहित है—ऐसा अनंत धर्मस्वरूप शुद्धात्मा को प्रकाशित करनेवाली अनेकांतमयी दिव्यवाणी जयवंत रहो—ऐसा कहकर दूसरे श्लोक में जिनवाणी को नमस्काररूप मंगल किया।

अब तीसरे श्लोक में टीकाकार अमृतचंद्राचार्य कहते हैं कि इस शास्त्र की टीका द्वारा मुझे मेरा परम शुद्ध स्वरूप की प्राति होओ, अर्थात् मेरी परिणति में सर्वोत्कृष्ट विशुद्धि होओ। इस समयसार में कहे हुए शुद्धात्मस्वरूप का मंथन करते-करते परिणति शुद्ध होती ही जाती है—यह बात तीसरे कलश में कही जायेगी।

धर्म साधन में एक क्षण का भी

विलम्ब न हो

[एक वैराग्य प्रसंग पर हुई चर्चा से]

जीव को कई बार प्रमाद के वश ऐसा लगता है कि अभी तो उम्र कम है; अमुक वर्ष के बाद आत्महित में ही जीवन बिताऊँगा....

परंतु भाई; इस छोटी उम्र में से बड़ी उम्र होगी ही—ऐसी क्या तेरे लिये उम्र की 'गारंटी' है ? इस समय ४० वर्ष है तो ५५ या ६० वर्ष तक उम्र होगी ही—ऐसा क्या तुझे विश्वास है ?—नहीं; तो फिर ऐसी अनिश्चित वस्तु के आधार से धर्म में विलंब न कर। १५-२० वर्ष की छोटी उम्र में ही बहुतों की आयु पूरी होते देखी जाती है। फिर तेरी आठ वर्ष की (गर्भवास सहित) उम्र हो जाने पर वह धर्म के योग्य उम्र हो ही गई है; आठ वर्ष की उम्र धर्म के लिये छोटी नहीं मानी जाती। आयु भले ही लम्बी हो, तथापि उसका जो समय धर्म साधन में व्यतीत हो, वही उत्तम है। अन्य निष्प्रयोजन कार्यों में जीवन व्यतीत हो, वह निष्फल है; इसलिये 'फिर'— ऐसा प्रमादभाव दूर करके 'अभी' ऐसा उत्साह भाव प्रगट कर... और सर्व उद्यम को धर्म साधन में लगा।

जो 'फिर' करने को कहता है, उस आत्मकार्य का यदि तुझे सचमुच प्रेम है तो इसी समय क्यों उसमें प्रवृत्त नहीं होता ? आत्महित के कार्य की अपेक्षा दूसरा तो कोई उत्तम कार्य इस जगत में है ही नहीं।

समता भाव

प्रेषक – महेन्द्र जैन प्रेम, आगरा (आयु १५ वर्ष)

धर्मद्वेषवश महाराज श्रेणिक ने दिगंबर वीतरागी मुनि के गले में मरा सर्प डाल दिया। और घर जाकर रानी चेलना को यह सब सुनाया। यह सुनकर चेलना बहुत दु:खी हुई। श्रेणिक ने कहा—तू दु:खी क्यों होती है, उन्होंने तो निकालकर फेंक दिया होगा। चेलना बोली—वीतरागी साधु ऐसा कभी नहीं कर सकते। आखिर राजा-रानी दोनों मुनि के समक्ष पहुँचे। तब तक लाखों चीटियों ने मुनिराज के शरीर में काटकर फुला दिया। चेलना ने नीचे शक्कर डालकर चीटियाँ उतारीं। तब मुनिराज ने उपसर्ग दूर हुआ जानकर आँखें खोलीं। उसी समय दोनों राजा-रानी ने उन्हें नमस्कार किया। 'तुम दोनों की धर्मवृद्धि हो, मुनिराज ने आशीर्वाद दिया! तब श्रेणिक सोचने लगा—शत्रु, मित्र दोनों को एकसा आशीर्वाद! धन्य हैं ये वीतरागी साधु।

स्वानुभव का रंग... और उसकी भूमिका

जीव को शुद्धात्मा के चिंतन का अभ्यास करना चाहिये। जिसको चैतन्य के स्वानुभव का रंग लगे, उसको संसार का रंग उतर जाता है। भाई! तू अशुभ और शुभ दोनों से दूर हटेगा, तब ही शुद्धात्मा का चिंतन हो सकेगा। जिसको अभी भी पाप के तीव्र कषायों से निवृत्ति नहीं, देव-गुरु की भक्ति, धर्मात्मा का बहुमान, साधर्मियों का प्रेम इत्यादि मंद कषायों की भूमिका में भी जो नहीं आया, वह अकषाय निर्विकल्प चैतन्य का ध्यान कहाँ से करेगा? प्रथम त्रैकालिक अकषाय ज्ञाता के लक्ष्यपूर्वक सभी कषायों का (शुभ-अशुभ का) रंग दूर हो जाये... और उसीप्रकार जहाँ इसका रंग दूर हो जाये, वहाँ इसकी मंदता तो सहज ही हो जाती है, और फिर चैतन्य का रंग चढ़ते इसकी अनुभूति प्रगट होती है। परिणामों को एकदम शांत किये बिना ऐसा का ऐसा अनुभव करना चाहे तो होता नहीं। अहा! अनुभवी जीव की अंदर की दशा तो कोई अजीब प्रकार की होती है।

सोनगढ़ (सुवर्णपुरी) समाचार

तारीख ४-१२-६६, परमोपकारी पूज्य स्वामीजी सुखशांति में विराजमान हैं। प्रवचन में सवेरे समयसार गाथा ५० से ५५ तथा दोपहर को गाथा ११३ से ११५ चालू है। अष्टाह्निका पर्व-पूजा-भक्ति सहित हरसाल माफिक उत्साह से मनाया गया है। श्री पंडित बंशीधरजी शास्त्री न्याय अलंकार इंदौर खास समयसार कर्ता-कर्म अधिकार के प्रवचन सुनने के लिये ठहरे हैं तथा हमेशा हरेक कार्यक्रम में मात्र आत्महित की दृष्टि से भाग ले रहे हैं।

शाश्वत तीर्थधाम श्री सम्मेदशिखरजी यात्रा का कार्यक्रम

पूज्य श्री कानजीस्वामी संघ सहित श्री शिखरजी की वंदनार्थ जयपुर (राजस्थान) से संवत् २०२३ फाल्गुन सुदी ६ तारीख १७-३-६७ के दिन प्रस्थान करेंगे और श्री महावीरजी, व्याना, इटावा, कानपुर, वाराणसी (बनारस), डालमियानगर होकर तारीख २४-३-६७ फाल्गुन सुदी १३ शिखरजी पहुँचेगे। फाल्गुन सुदी १४ के दिन तीर्थ वंदना होगी। यात्रासंघ में आनेवालों के लिये जयपुर से शिखरजी तथा शिखरजी से जयपुर तक की बस मोटर की व्यवस्था की गई है, उसका किराया तथा व्यवस्था खर्च प्रत्येक व्यक्ति का १५०) तथा ३ से १२ साल की उम्र के बच्चों के लिये १००) रखा गया है। यात्रा में आने के इच्छुक निम्न पते से या जिस गाँव में मुमुक्षु मंडल हो वहाँ से विनती पत्र तथा कार्यक्रम मँगाकर डिपाजिट रकम ५०) के साथ तारीख १५-१-६७ तक भेज दीजियेगा। अपनी निजी मोटर में आनेवाले यात्रियों को भी विनतीपत्र भेजना जरूरी है। भोजन की व्यवस्था स्वयं अपनी स्वतंत्र करनी होगी, यात्रासंघ की ओर से नहीं है।

कार्यक्रम

गाँव		तिथि	तारीख	वार	कितने दिन ठहरेंगे
जयपुर से प्रस्थान		फाल्गुन सुदी ६	१७-३-६७		
महावीरजी	मील १००	फाल्गुन सुदी ६	१७-३-६७	शुक्रवार	१
व्याना	मील २७	''७	१८-३-६७	शनिवार	१
इटावा	मील १२४	''८	१९-३-६७	रविवार	१
कानपुर	मील १११	''९	२०-३-६७	सोमवार	१

इलाहाबाद	मील १२१	''१०	२१-३-६७	मंगलवार	१
वाराणसी	मील ७८	''११	२२-३-६७	बुधवार	१
डालमियानगर	मील ८४	''१२	२३-३-६७	गुरुवार	१
शिरधार	मील ४५	''	''	''	''
शिखरजी	मील १०६	''१३	२४-३-६७	शुक्रवार से सोमवार तक	४

सूचना-पूज्य कानजीस्वामी सहित संघ का कार्यक्रम शिखरजी के पश्चात् पावापुरी, रांची, कलकत्ता का कार्यक्रम तथा मात्र यात्रीसंघ के अन्य यात्रार्थियों के लिये पावापुरी, राजगृही, चंपापुरी, मंदारगिरि, कलकत्ता का कार्यक्रम तथा कलकत्ता के पश्चात् फिरोजाबाद, आगरा, दिल्ली, उदयपुर आदि के कार्यक्रम विचार करके प्रगट किये जायेंगे।

पत्र व्यवहार—

व्यवस्थापक कमेटी पूज्य श्री कानजीस्वामी दि० जैन तीर्थ यात्रासंघ

श्री दि० जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

विहार आदि के समाचार-कार्यक्रम

सोनगढ़ से पूज्य कानजीस्वामी तारीख १०-१२-६६ को प्रस्थान करके अहमदाबाद तारीख १० से १३ तक, वड़ोदरा तारीख १४, मीयांगाम-करजण तारीख १५, पालेज तारीख १६ से २३ तक, पालेज में दि० जिनमंदिर की १० वीं वर्ष निमित्त सिद्धचक्र महा पूजा मंडल विधान, दाहोद भजन मंडली द्वारा जिनेन्द्र भक्ति तथा रथयात्रा तथा पूज्य स्वामीजी के प्रवचन होंगे। आसपास गाँवों से धर्म जिज्ञासुजन आकर यहाँ पूज्य स्वामीजी के प्रवचन सुनने के लिये तथा उत्सव में लाभ लेने के लिये एकत्र होंगे। पालेज से अहमदाबाद तारीख २४, सोनगढ़ में तारीख २५, दिसम्बर मंगसर सुदी १३ को पधारेंगे पश्चात् पोष सुदी ९ सोनगढ़ से प्रस्थान करके भावनगर ४ दिन तारीख २०-१-५७ से २३ तक, पश्चात् लाठी-कलापीनगर, अमेरली होकर जसदण (सौराष्ट्र) में नया दि० जिनमंदिर में वेदी प्रतिष्ठा महोत्सव है गुजराती मिती पोष बदी ८ उ० प्र० म०प्र० के हिसाब से मिती महा बदी ८, गुरुवार २-२-६७ यहाँ पूज्य कानजीस्वामी बदी ५ से ८ तक अर्थात् तारीख ३०-१-६७ से तारीख २-२-६७ तक रहेंगे। पश्चात्

मोटा आंकडिया (जिला अमेरली-सौराष्ट्र) में नूतन दिगम्बर जिनमंदिर में पंच कल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव होगा मिती महा सुद १ (यहाँ स्वामीजी बदी ९ से महा सुदी १, तारीख ३-२-६७ से तारीख १०-३-६७ तक रहेंगे।) प्रतिष्ठाचार श्री नाथूलालजी शास्त्री, इंदौर से पधारेंगे। पश्चात्

हिम्मतनगर (उत्तर गुजरात ए०पी० रेलवे) महावीर नगर में नूतन भव्य जिनालय में पंच कल्याणक प्रतिष्ठा महामहोत्सव होगा मिती महा सुदी ११ (यहाँ स्वामीजी महासुदी ३ से ११ तारीख १२-२-६७ से तारीख २०-२-६७ तक रहेंगे।) यहाँ फतेपुर निवासी श्री बाबूभाई आदि का उत्तम प्रकार उत्साह है। प्रतिष्ठाचार्य श्री नाथूलालजी शास्त्री इंदौर।

साहेला (लूणी-राजस्थान) यहाँ नये जिनमंदिर में नये साधर्मी बंधु द्वारा में वेदी प्रतिष्ठा महोत्सव है मिती मारवाड़ी हिसाब से फाल्गुन वदी १ (यहाँ पूज्य स्वामीजी महासुदी १५ वदी १ तारीख २४-२५ फरवरी को दो दिन रहेंगे।) यहाँ प्रतिष्ठाचार्य पंडित गेंदालालजी शास्त्री बूंदी निवासी पधारेंगे। पश्चात्

कुचामन, लाडनू, सीकर होकर जयपुर (राजस्थान में) तारीख ६-३-६६ पूज्य स्वामीजी पधारेंगे यहाँ श्री पूरनचंद्रजी गोदीका परिवार द्वारा निर्मित आचार्यकल्प पंडित प्रवर श्री टोडरमलजी स्मारक भवन का उद्घाटन तथा उसी स्थान पर जिनेन्द्र भगवान की वेदी प्रतिष्ठा-महोत्सव फाल्गुन सुदी २ को होगा। प्रतिष्ठाचार्य श्री पंडित नाथूलालजी शास्त्री संहितासूरि इंदौर से पधारेंगे।

धार्मिक शिक्षण शिविर

जयपुर : दिनांक १५ दिसम्बर से ३१ दिसम्बर तक धार्मिक शिक्षण शिविर का आयोजन जैन मुमुक्षु मंडल के तत्त्वावधान में किया जा रहा है। जिसमें निम्न विद्वान व तत्त्वज्ञानी, प्रवचन व शिक्षण हेतु पधार रहे हैं।

१. ब्र० पंडित खीमचंदजी सेठ, सोनगढ़
२. श्री युगलजी कोटा,
३. पंडित फूलचंदजी सि० शास्त्री, वाराणसी
४. पंडित जगनमोहनलालजी, कटनी
५. पंडित हुकमचंदजी शास्त्री, अशोकनगर
६. पंडित देवशीभाई, राजकोट
७. पंडित धन्यकुमारजी, बी.ए.
८. पंडित चिमनलालजी सोनगढ़
९. ब्र० श्री धन्नालालजी सर्राफ, लश्कर

सभी साधर्मी बंधुओं से सविनय निवेदन है कि इस परम पुनीत धार्मिक आयोजन में अवश्य सम्मिलित होकर ज्ञान व धर्म लाभ प्राप्त करें।

स्थान	समय
बड़े मंदिरजी तेरापंथी	प्रात: ७.०० से ९.०० बजे
बड़े दीवानजी का मंदिर	रात्रि ७.०० से ९.०० बजे

निवेदक—
डा० ताराचंद जैन, बख्शी भवन, न्यू कोलोनी, जयपुर
संयोजक—धार्मिक शिक्षण शिविर
श्री जैन मुमुक्षु मंडल, जयपुर

नया प्रकाशन

श्रीमत्भगवान् श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव विरचित

श्री नियमसारजी शास्त्र (दूसरी आवृत्ति)

सर्वज्ञ वीतराग कथित महान आध्यात्मिक भागवत् शास्त्र, ११ वीं शती के अध्यात्मरस के सर्वोत्तम कवि शिरोमणि श्री पद्मप्रभमलधारिदेव मुनिवरकृत संस्कृत टीका तथा अक्षरश: प्रामाणिक हिन्दी अनुवाद सहित शास्त्र जिसकी तत्त्वज्ञान के जिज्ञासुओं द्वारा काफी जोरों से मांग है, पूर्णरूप से संशोधित, यह ग्रंथ महान, अनुपम, पवित्र तत्त्वज्ञान की अपूर्व निधि समान है। पृष्ठ संख्या ४१५, बड़ी साइज में, रेगजीन कपड़े की सुन्दरतम जिल्द। मूल्य बहुत कम कर दिया है। मात्र ४/- पोस्टेजादि अलग। देश-विदेश में, कोलेज-विश्वविद्यालयों में-सर्वत्र सुंदर प्रचार के योग्य अत्यंत सुगम और सब प्रकार से सुंदर ग्रंथ है। जिज्ञासुगण शीघ्र ओर्डर भेजें।

श्री दिगंबर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

परमपूज्य श्री कानजी स्वामी के आध्यात्मिक वचनों का अपूर्व
लाभ लेने के लिये निम्नोक्त पुस्तकों का—

अवश्य स्वाध्याय करें

श्री समयसार शास्त्र	५–०
श्री प्रवचनसार शास्त्र	४–०
श्री नियमसार शास्त्र	४–०
श्री पंचास्तिकाय संग्रह शास्त्र	३–५०
समयसार प्रवचन, भाग १–२–३	अप्राप्य
समयसार प्रवचन भाग ४	४–०
[कर्ताकर्म अधिकार, पृष्ठ ५६३]	
आत्मप्रसिद्धि	४–०
मोक्षशास्त्र बड़ी टीका (तृ०), पृष्ठ–९००	५–०
स्वयंभू स्तोत्र	०–५०
मुक्ति का मार्ग	०–५०
मोक्षमार्ग–प्रकाशक की किरणें प्र०	१–०
'' ''द्वितीय भाग	२–०
जैन सिद्धांत प्रश्नोत्तरमाला, भाग १–२–३	०–६०
योगसार–निमित्त उपादान दोहा, बड़ा टा.	०–१२
श्री अनुभवप्रकाश (दीपचंद्रजी कृत)	०–३५
श्री पंचमेरु पूजा संग्रह आदि	१–०
बृ.दसलक्षण धर्मव्रत उद्यापन पूजा	०–७५
देशव्रत उद्योतन प्रवचन	६–०
अष्टप्रवचन (ज्ञानसमुच्चयसार)	१–५०
मोक्षमार्गप्रकाशक (श्री टोडरमलजी कृत) आधुनिक भाषा में	प्रेस में
समयसार कलश टीका (पं. राजमल्लजी पांडे कृत) आधुनिक भाषा में	प्रेस में

[डाकव्यय अतिरिक्त]

जैन बाल पोथी	०–२५
छहढाला बड़ा टाईप (मूल)	०–१५
छहढाला (नई सुबोध टी.ब.) सचित्र	१–०
ज्ञानस्वभाव ज्ञेयस्वभाव	प्रेस में
सम्यग्दर्शन (तीसरी आवृत्ति)	१–८५
जैन तीर्थयात्रा पाठ संग्रह	१–४५
अपूर्व अवसर अमर काव्य पर प्रवचन प्रवचन और श्री कुंदकुंदाचार्य द्वादशानुप्रेक्षा व लघु सामा. प्रेस में	
भेदविज्ञानसार	२–०
अध्यात्मपाठ संग्रह	४–०
वैराग्य पाठ संग्रह	१–०
निमित्तनैमित्तिक संबंध क्या है ?	०–१५
स्तोत्रत्रयी	०–५०
लघु जैन सिद्धांत प्रवेशिका	०–२५
'आत्मधर्म मासिक' इस एक वर्ष के लिये	२–०
'' पुरानी फाईलें सजिल्द	३–७५
शासन प्रभाव तथा स्वामीजी की जीवनी	०–१२
जैनतत्त्व मीमांसा	१–०
बृ०मंगल तीर्थयात्रा सचित्र गुजराती में ग्रन्थ का मात्र	१८) ६–०
अभिनंदन ग्रंथ	७–०

मिलने का पता—
श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

मुद्रक—नेमीचन्द बाकलीवाल, कमल प्रिन्टर्स, मदनगंज (किशनगढ़)
प्रकाशक—श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट के लिये—नेमीचन्द बाकलीवाल।